# विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

## हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई-अगस्त-सितम्बर

★ १९८१ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

**स्वामी आत्मानन्द**

व्यवस्थापक

**ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य**

८)

एक प्रति २।)

आजीवन सदस्यता शुल्क-१००)

**रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम**

रायपुर-४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

# अनुक्रमणिका

—।०।—



o

(कवर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द


भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर
प्राप्त कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर-४९२००१ (म. प्र.)

# विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

( ५४ वीं तालिका )

१७०१. श्रीरामकृष्ण आश्रम, श्रीनगर (काश्मीर)
१७०२ श्री. दिनेन्द्र नाथ मुखर्जी, अम्बिकापुर
१७०३. श्री. डब्ल्यु. बी. पुजारी. नागपुर
१७०४. श्री. नरेन्द्र तिवारी. इन्दौर
१७०५. श्री. डी एम. गंजोर. रायगढ़
१७०६. श्री. जुगेन्द्रसिंह चौधरी. रुड़की.
१७०७. श्री. अनन्तराम यदु. रायपुर
१७०८. श्री. अशोक कुमार अग्रवाल, बारगढ़ (उड़िसा)
१७०९. श्री. कविराज सतीशचन्द्र शर्मा, कलकत्ता
१७१०. श्री. चन्द्रभान ओमप्रकाश. केमिगा
१७११. डा. श्री. रामजीवन चौबे, दुर्ग
१७१२. श्री. भारतभूषण टेंकवानी. रायपुर
१७१३. डा. श्री टी. यु. देशमुख, चिखली (महाराष्ट्र)
१७१४. श्री. विजय बाळनाथ मावसार, चिखली.
१७१५. श्री. ऋषि गोस्वामी, राऊरकेला

## पाठकों को विशेष सुविधा

विवेक-ज्योति के पुराने निम्न १३ अंक मात्र १०) अग्रिम भेजकर बिना अतिरिक्त डाक खर्च के प्राप्त करें। अन्यथा वी. पी. व्यय ग्राहकों को देय होगा।

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| वर्ष | ९ | सन् | १९७१ | का | अंक २ |
| ,, | १० | ,, | १९७२ | ,, ,, | ४ |
| ,, | ११ | ,, | १९७३ | ,, ,, | २, ३ |
| ,, | १२ | ,, | १९७४ | ,, ,, | २, ३, ४ |
| ,, | १३ | ,, | १९७५ | ,, ,, | ३, ४ |
| ,, | १४ | ,, | १९७६ | ,, ,, | १, ३, ४ |
| ,, | १८ | ,, | ११८० | ,, ,, | ३ |

लिखें– व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

## हिन्दी त्रैमासिक


जुलाई–अगस्त–सितम्बर

वर्ष १९]  ★ १९८१ ★  [अंक ३


## वासनात्रय–लोहे की जंजीर

संसारकारागृहमोक्षमिच्छो-
अयोमयं पादनिबद्धशृंखलम् ।
वदन्ति तज्ज्ञाः पटुवासनात्रयं
योऽस्माद्विमुक्तः समुपैति मुक्तिम् ।।

—संसाररूप कारागार से मुक्त होने की इच्छावाले पुरुष के लिए ब्रह्मज्ञ पुरुष इस प्रबल वासनात्रय (लोकवासना, शास्त्र-वासना और देहवासना) को पैरों में पड़ी हुई लोहे की जंजीर बतलाते हैं। जो इससे छुटकारा पा जाता है, वही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

—विवेकचूड़ामणि, २७३

# अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९ वाँ रास्ता, न्यूयार्क,
२० दिसम्बर, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

... धीरज रखो और मृत्युपर्यन्त विश्वासपात्र रहो। आपस में न लड़ो! रुपये-पैसे के व्यवहार में शुद्ध भाव रखो! ... हम अभी महान् कार्य करेंगे। ... जब तक तुममें ईमानदारी, भक्ति और विश्वास है, तब तक प्रत्येक कार्य में तुम्हें सफलता मिलेगी।

वैदिक सूक्त का अनुवाद करने में भाष्यकारों पर विशेष ध्यान दो; पाश्चात्य संस्कृत-विद्वानों की कुछ परवाह न करो। वे हमारे शास्त्रों की एक बात भी नहीं समझते। शुष्क शब्द-शास्त्रज्ञों के लिए धर्म और तत्त्व-ज्ञान नहीं है। ... उदाहरणार्थ ऋग्वेद के शब्द आनीदवातम् का अनुवाद किया, 'वह बिना साँस का जीवित रहा।' यहाँ असल में मुख्य प्राण की ओर संकेत है और 'अवातम्' का मूल अर्थ है 'अचल' अर्थात् 'स्पन्दन-रहित'। भाष्यकारों के अनुसार यह उस अवस्था का वर्णन है, जिसमें विश्व-शक्ति या प्राण कल्प के आरम्भ होने से पहले रहता है (देखो, भाष्यकार)। हमारे ऋषियों के अनुसार अर्थ लगाओ, यूरोपियन विद्वानों के अनुसार नहीं। वे क्या समझते हैं?

. . . वीर और अभय बनो और मार्ग साफ हो जायगा । . . . याद रखो कि थियोसॉफिस्ट लोगों से तुम्हें कुछ काम नहीं है । यदि तुम सब मेरा साथ दोगे, और धीरज न छोड़ोगे, तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि हम अभी बड़े काम करेंगे । मेरे इंग्लैण्ड में महान् कार्य होंगे--धीरे धीरे । मुझे ऐसा मालूम होता है कि कभी कभी तुम साहस छोड़ देते हो तथा तुम्हें थियोसॉफिस्ट लोगों के जाल में फँसने का लोभ हो जाता है । याद रखो कि गुरु-भक्त विश्वविजयी होता है । यह इतिहास का एक प्रमाण है । . . . विश्वास मनुष्य को सिंह बना देता है । तुम्हें हमेशा याद रखना चाहिए कि मुझे कितना काम करना पड़ रहा है । कभी कभी मुझे दिन में दो या तीन व्याख्यान देने पड़ते हैं--इस तरह मैं विघ्न और बाधाओं से निकलता हूं--मेहनत से; मेरी अपेक्षा कोई निर्बल आदमी मर गया होता ।

. . . शक्ति और विश्वास के साथ लगे रहो । सत्य-निष्ठ, पवित्र और निर्मल रहो, तथा आपस में न लड़ो । हमारी जाति का रोग ईर्ष्या ही है ।

हमारे सब मित्रों को और तुम्हें मेरा प्यार--

विवेकानन्द

०

# श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

*स्वामी सारदेशानन्द*

(गतांक से आगे)

श्री माँ के लीला-संवरण के दूसरे दिन दोपहर में जब उनकी पावन देह को बेलुड़ मठ लाया गया, तब यद्यपि उतनी तेज धूप में लाया गया था फिर भी मुख-मण्डल ज्योतिर्मण्डित था। स्नान-पूजादि के बाद भी अन्त तक मुख की वह दिव्य ज्योतिर्मयी आभा पूरी तरह से नष्ट नहीं हुई थी, तथापि जिन लोगों को उनके चरण-कमलों के स्पर्श का सौभाग्य मिला था, उन्होंने पाया था कि वे तब भी अत्यन्त सुकोमल थे; पुष्पादि से सुशोभित हो 'स्थल पद्म-प्रतीकाशम्' उन युगल चरणों ने अत्यन्त मनोहारी रूप धारण किया था। माँ की इस ज्योतिर्मय प्रभा के सम्बन्ध में पूजनीय रासबिहारी महाराज ने कहा था, "कितनी आश्चर्यमय घटना थी, बहुत दिनों तक भुगतते भुगतते माँ के शरीर में कुछ भी नहीं था, चेहरा अत्यन्त क्षीण और म्लान हो गया था, देह-त्याग के समय भी वही रूप था। प्राणवायु के विलीन होने के बाद पूजनीय शरत् महाराज के निर्देश से पहने हुए वस्त्रों को बदलकर नूतन वस्त्रादि पहिनाकर उस देह को साफ बिछौने पर रखा गया, धूप जलायी गयी। थोड़ी दूर पर सब शोकाकुल होकर बैठे थे कि हठात् एक की नजर पड़ी, मुखमण्डल जगमगा रहा है——चारों तरफ ज्योति फूट रही है। उसके यह बोलते ही कि 'देखो, देखो, माँ का मुख ज्योतिर्मय

हो गया है' सबकी नजर उस तरफ उठ गयी। आवाक् हो सब एक दूसरे का मुख देख रहे हैं---कैसा आश्चर्य है! कहाँ से हठात् इस ज्योति का आविर्भाव हो गया, पहले तो किसी ने कभी ऐसा देखा नहीं! सबका हृदय आश्चर्य से पुलकित हो उठा, मातृ-संगीत भजनादि आरम्भ हो गया।"

तेरहवें दिन बेलुड़ मठ में महामहोत्सव हुआ, पूजा-पाठ-कीर्तन-प्रसादवितरण और 'दीयतां भुज्यताम्' के रव से मठ गूँज उठा। तब वर्षाकाल था; उत्सव के एक दिन पूर्व बहुत मेघ छाये देख अनेक लोग आशंकित और उद्विग्न हो उठे थे, तब पूजनीय महापुरुष महाराज ने खूब जोर देकर कहा था, "कोई भय नहीं है, जानते नहीं हो किसका कार्य है? उन्हीं की इच्छा से सारे कार्य सर्वांग-सुन्दर रूप से होंगे।" दूसरे दिन आकाश खुल गया और सबने निर्विघ्न उत्सव में भाग लिया और प्रसाद पाया।

माँ के देह-त्याग के दो-एक दिन बाद शाम के समय माँ के दीक्षित एक सम्भ्रान्त भक्त दम्पति अत्यन्त शोकार्त हो बेलुड़ मठ में आये एवं पूजनीय महापुरुष महाराज के दर्शन कर अपने हृदय के प्रबल शोक को रोते रोते निवेदित करने लगे। वे लोग दूर रहते थे, माँ के अन्तिम दर्शन की इच्छा से बहुत कष्ट उठाकर आये थे, किन्तु आशा पूरी नहीं हुई। माँ उसके पहले ही अन्तर्धान हो गयी थीं। महापुरुष महाराज ने उनके प्रति बड़ी सहानुभूति प्रकट

करते हुए सान्त्वना प्रदान की। इससे उन लोगों का मन कुछ शान्त हुआ। उसके बाद महापुरुष महाराज एक प्रकार से भावाविष्ट हो उठे और कहने लगे, "माँ तो अब सर्वव्यापिनी हो गयी हैं, सभी में विद्यमान हो गयी हैं, अब तो सभी स्थान में देख पाओगे। वे अब तक एक स्थान में थीं। अब सर्वत्र हैं। दुःख का कोई कारण नहीं, व्याकुल होकर आन्तरिक भाव से पुकारते ही दर्शन देंगी।" महापुरुष महाराज की उस आशापूर्ण वाणी ने बहुतों के हृदय को छू लिया तथा उन्हें ढाढ़स बँधाया।

इसके कई वर्ष बाद श्रीपंचमी के दिन एक ब्रह्मचारीजी बेलुड़ मठ में प्रतिमा में सरस्वती देवी की पूजा करने से पूर्व महापुरुष महाराज का आशीर्वाद ग्रहण करने गये थे, उनको लक्ष्य करके महापुरुष महाराज ऊँचे स्वर में कह उठे, "माँ ही साक्षात् सरस्वती हैं, उनकी कृपा से हमारे मठ में नित्य उनकी पूजा होगी। वे ही कृपा करके हम सबका अज्ञान दूर करती हैं, ज्ञान-भक्ति प्रदान करती हैं।" फिर 'जय माँ' 'जय माँ' कहकर महापुरुषजी भक्ति-भरे कण्ठ से हाथ जोड़े हुए माँ के उद्देश्य से बारम्बार प्रणाम करने लगे। उनके उस भावोच्छ्वास ने सबके चित्त को द्रवित कर दिया। माँ का एक भक्त 'माँ साक्षात् सरस्वती हैं' सुनकर बड़ा ही पुलकित हो उठा, उसके भीतर एक पुरानी स्मृति जाग उठी। एक दिन वह जयरामवाटी में पूजा के लिए फूल एकत्र करने घर से बाहर निकला, आसपास कहीं भी फूल न मिलने से घूमते घूमते भुरसुबो

गाँव में मानिकराजा के घर में उपस्थित हुआ एवं उनके पुराने उजाड़ बगीचे में एक प्रायः सूखे से कुन्द के झाड़ में वहुत से फूल देखकर अत्यन्त हर्षित हो उठा। वह झाड़ो-झंखाड़ पार कर बहुत से फूल इकट्ठा कर ले आया। तब शीतकाल था, कुन्द फूल के खिलने का मोसम था। माँ फूल देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं और ठाकुरजो की पूजा की। भक्त ने पूजा के समय थोड़े से फूल अलग से बचाकर रखने के लिए माँ से विनती की थी। पूजा के बाद उसको बचे फूल दिखाकर माँ एक चारपाई पर पैर नीचे झुलाकर बैठ गयीं। वह फूल लाने गया तो देखा, उसमें एक अत्यन्त सुन्दर खिला हुआ कुन्द का फूल भी रखा है। भक्त लोग माँ के पाद-पद्मों में लाल फूल देना पसन्द करते, सफेद फूल तो ठाकुरजी के लिए रहते। जो हो, माँ ने रख दिया था। इसलिए सफेद कुन्द फूल को हाथ में ले उसने चरणों में दिया। बस, त्योंही उसके हृदय में आनन्द की एक लहर उठी, उसे लगा मानो फूल एक अपूर्व शोभा फैला रहा है तथा चारों दिशाओं को आलोकित कर हंस रहा है। माँ भो अत्यन्त प्रसन्नवदन बैठी थीं। कुन्द तो माता सरस्वती का बड़ा प्रिय पुष्प है और हमारो माँ साक्षात् सरस्वती जो हैं! पर अज्ञ सन्तान ने तब ऐसी बात कहाँ सुनी थी?

## परिशिष्ट

भले ही कुछ प्रदर्शनप्रिय लोग मुँह से श्री ठाकुर और श्री माँ को भगवान्-भगवती कह-कहकर प्रचारित

करते और भक्तिभाव दिखाने की चेष्टा करते, पर माँ यह भाँप जातीं कि उन लोगों के भीतर श्रद्धा-विश्वास का अभाव है। यह सही है कि वे एक अत्यन्त सरल ग्रामीण महिला थीं, संसार की आधुनिक कुटिलता का उन्हें रंच-मात्र भी ज्ञान न था, न वे उसके पास फटकती थीं, तथापि उनकी दूरदृष्टि में कोई भी बात अजानी नहीं थी, नहीं रहती थी। पर इससे अपनी इन सब दुर्बल, अक्षम भक्त-सन्तानों के प्रति उनकी स्नेह-कृपा में बिन्दुमात्र की भी कमी न होती। उनके भविष्य के मंगल के लिए वे अवसर के अनुकूल उपदेश देतीं, समयविशेष में सावधान भी कर देतीं। जिनके अन्तर में वे भोगवासना प्रबल देखतीं, उनको अन्तर्यामिनी कभी भी संसार-त्याग का पथ नहीं दिखातीं अथवा इस पथ की उच्च प्रशंसा उनके सामने नहीं करतीं। वे उन लोगों को सन्मार्ग पर चल-कर सत्कर्म करते हुए संयमी संसारी बने रहने का उप-देश देतीं। पर इस विषय में वे अवश्य ही सर्वदा सबको विशेष रूप से सावधान करतीं कि ईश्वर में विश्वास-भक्ति ही जीवन का प्रधान अवलम्बन है।

हम पूर्व में प्रसंगानुसार ढाका के भक्तों के चन्दा इकट्ठा करने के सम्बन्ध में माँ के मन्तव्य को बतला चुके हैं। अभी विभिन्न समय में उनके द्वारा दिये गये इसी प्रकार के कुछ आलोचनात्मक और शिक्षाप्रद मन्तव्यों को बतलाने की इच्छा हो रही है।

माँ का एक शिष्य विवाहित था। वह गाँव की

पाठशाला में शिक्षकी करके अपनी आजीविका चलाता। उसे अनेक प्रकार के शिल्पादि कार्यों की अच्छी जानकारी थी, मोटे तौर पर जीवन चलाने के लिए किसी प्रकार का अभाव असुविधा न थी। अन्तर में धर्म-भाव बचपन से ही था। बाद में ठाकुरजी के बारे में पढ़कर और माँ की कृपा पाकर भगवद्-भजन के लिए मन में प्रबल आकांक्षा जगी और वह संसार का पूरी तरह से त्याग कर साधु बनकर एक आश्रम का अन्तेवासी बन गया। आश्रम में तरह तरह के काम थे, धीरे धीरे उस पर काम का भार बढ़ने लगा। वहाँ सभी दिनरात खटते थे, तब फिर वह कैसे बैठे रहकर इच्छानुसार जप-ध्यान कर पाता। कुछ दिन बाद ही भीतर में बड़ी अशान्ति उत्पन्न हो गयी। वह कहाँ तो झझट से मुक्त रहकर भजन करने की सोच संसार त्यागकर आया था, और कहाँ उससे भी अधिक झंझट में फंस गया! एक दिन वह श्री माँ के पास पहुँचा और उन्हें अपने अन्तर की वेदना निवेदित की। माँ बोली "बेटा, तवे से निकले तो चूल्हे में आ गिरे! यह आश्रम नहीं, दूसरा संसार है!" माँ उसको ठाकुर का स्मरण कर सब सहन करने के लिए समझाने लगीं और कहने लगीं कि अन्दर से साधन-भजन की इच्छा होने पर ठाकुर समय पर सब योगायोग कर देंगे। और सचमुच, कुछ दिन बाद उसके काशी में रहने की व्यवस्था हो गयी। फिर बाद में उसने बहुत दिनों तक उत्तराखण्ड में रहकर साधन-

भजन किया था तथा आनन्द लाभ किया था।

एक आश्रमाध्यक्ष माँ के पास आये और शिकायत करने लगे कि आश्रम के कार्यकर्त्ता सब बातों में उनका निर्देश सोलहों आना नहीं मानते। उस आश्रम के सारे कार्यकर्त्ता माँ के शिष्य थे और माँ के आदेश का पालन करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। इसलिए आश्रमाध्यक्ष ने सोचा कि माँ यदि आदेश देंगी, तो वे सब कार्यकर्त्ता बिना किसी आपत्ति के उनके निर्देशों का पालन करेंगे। माँ आश्रमाध्यक्ष को खूब चाहती थीं, उन पर बड़ा भरोसा विश्वास करतीं और उनकी बुद्धिमत्ता तथा कार्य करने की शक्ति की खूब प्रशंसा करती थीं। इसलिए उनकी धारणा थी कि माँ उनके अनुरोध के अनुसार सबको उनके अधीन रहने तथा सब बातों में उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए अवश्य कह देंगी। किन्तु माँ उनके प्रस्ताव पर किसी भी प्रकार से सहमत नहीं हुईं। दृढ़तापूर्वक उनके प्रस्ताव को नकारते हुए माँ ने समझाने के स्वर में कहा, "लड़के लोग साधु हुए हैं, भगवान् को पुकारेंगे, स्वयं का जीवन सार्थक करेंगे। आश्रम का काम-काज तो यथासाध्य करते ही हैं, करेंगे भी। वे लोग बड़े हो गये हैं, बुद्धि-समझ हो गयी है, स्वयं का अच्छा-बुरा, सुख-सुविधा समझते हुए वे लोग यदि स्वाधीन भाव से चलना चाहें, तो तुम इसमें बाधा क्यों दोगे? और बाधा देने पर भी, जिसने स्वयं कष्ट और

असुविधा का वरण किया है, वह क्या हमेशा दूसरे के अधीन हो सकता है ? तुम्हारे काम में यदि असुविधा हो, तो तुम्हें ही उन लोगों को समझाकर कहना पड़ेगा। वे लोग हमेशा तुम्हारी बात सुनते आये हैं, अब भी सुनेंगे। प्यार से सब कुछ होता है, जोर देकर नियम-कानून द्वारा किसी से कुछ नहीं कराया जा सकता।" परन्तु अध्यक्ष माँ की यह बात सुनकर भी अपनी कर्तृत्व-बुद्धि को कम नहीं कर पाये, वे बुद्धिबल से कौशलपूर्वक सबसे काम कराने की चेष्टा करने लगे। फलस्वरूप थोड़े दिनों बाद ही विद्रोह आरम्भ हो गया। आश्रमाध्यक्ष का विभिन्न समय में दिये गये माँ के उपदेशों के मर्मार्थ को ही यहाँ संक्षेप मे लिखा गया है।

हम यह पूर्व में ही उल्लेख कर चुके हैं कि जयरामवाटी में माँ के लिए जब नये घर का निर्माण हो गया, तब उसके बाद स्थानीय लोगों की सेवा के लिए धर्मार्थ औषधालय और रात्रि-पाठशाला की भी स्थापना की गयी। इन सब कार्यों की प्रगति और विस्तार के लिए आयोजकगण धन इकट्ठा करने हेतु माँ के नाम से एक अपील निकालने का विचार कर रहे थे, पर जब माँ के कान में यह बात पड़ी, तो उन्होंने उसका कड़ा विरोध किया। माँ की अप्रसन्नता के भय से वे लोग इस विषय में फिर आगे नहीं बढ़े। माँ जानती थीं, उनके प्रिय शिष्य ललित बाबू बड़ा परिश्रम और कष्ट उठाकर उक्त औषधालय और पाठशाला के लिए धन एवं आवश्यक

वस्तुओं की व्यवस्था करते थे। माँ सावधान रहती कि इन सब चीजों का सही सही उपयोग हो, कहीं किसा प्रकार का दुरुपयोग न हो। लड़ाई के दिनों में दवाइयाँ और स्पिरिट दुर्लभ हो गयी थीं, इकट्ठा करना कठिन काम था। वात की पीड़ा में माँ के घुटने में स्पिरिट से मालिश करने पर उस समय के लिए थोड़ा आराम मिलता था। एक भक्त सन्तान ने दो ही चार दिन इस प्रकार स्पिरिट से बीच बीच में मालिश की होगी कि माँ करुण स्वर में कह उठीं, "बेटा! ललित गरीबों के लिए कितना कष्ट उठाकर हम लोगों को यह सब इकट्ठा करके देता है। अभी लड़ाई के कारण यह सब मिलना ही कठिन हो गया है। सरसों तेल में थोड़ी लहसुन डाल गरम करके मालिश करने पर भी मुझको बहुत आराम मिलता है। इस कीमती चीज को उपयोग में लाने में मुझे कष्ट होता है, अब यह मालिश नहीं करनी होगी।" और माँ ने स्पिरिट से मालिश बन्द करा दी।

माँ के बुद्धि-विचार और दूरदर्शिता की बात सोचने से अवाक् रह जाना पड़ता है, आश्चर्य की सीमा नहीं रह जाती। जयरामवाटी के जमींदार राय लोगों की सन्तान डाक्टर सजनीबाबू ने माँ के पास दीक्षा-ग्रहण की इच्छा प्रकट की। पहले तो माँ ने मीठे शब्दों में समझाकर विरत करने की चेष्टा की, पर जब सजनीबाबू किसी प्रकार न माने, तो माँ ने उनको दीक्षा दी। दीक्षा के बाद सजनीबाबू ने उन्हें दो रुपये गुरुदक्षिणा के रूप में

दिये, पर माँ ने बहुत समझाकर उन्हे वापस कर दिये। जब एक शिष्य को इस घटना का पता चला, तो वह बड़ा विस्मित हुआ। माँ ने इस पर उससे कहा था, "वह अपने बगीचे से कभी कभी चीजें लाकर देता है, वह अलग बात है, किन्तु रुपया लेनें मे उसके घर के लोगों को संदेह हो सकता है, कि कहीं बाद में उन लोगों की सम्पत्ति पर हाथ न जाय। वे विषयी लोग हैं, जमींदार हैं; इसलिए उन लोगों से प्रणामी रुपया नहीं लिया, ग्रहण करके वापस कर दिया।"

जहाँ तक स्मरण आता है, गड़वेता या उसी अंचल के किसी आश्रम का एक ब्रह्मचारी आश्रम के खर्च के लिए चन्दा इकट्ठा करने हेतु इधर उधर घूमता-घामता जयरामवाटी पहुँचा। माँ उस समय वहीं थीं। उन्होंने उसे स्नेहपूर्वक रखा, ममतापूर्वक खिलाया-पिलाया और विशेष रूप से समझा दिया कि जयरामवाटी या उसके आसपास के गाँवों में किसी से भिक्षा न माँगे, चन्दा इकट्ठा न करे। माँ ने उससे कहा था, इस तरफ के लोग बड़े गरीब हैं, किसी प्रकार खेती-वेती करके कष्ट से पेट पालते हैं। इन लोगों के पास पैसा-कौड़ी माँगना ठीक नहीं। ठाकुर का नाम ले उनसे कुछ माँगने पर वे यही सोचेंगें कि ठाकुर ने उनके सिर पर एक आफत ला दी है।" चन्दा इकट्ठा करने के नाम से माँ के मन में एक आतंक का भाव आ जाता।

ठाकुर की पूजार्चना के लिए जब माँ बहुतों का

उत्साह और उद्यम देखतीं, पर साथ ही उनमें आन्तरिक भावभक्ति का अभाव पातीं, तो वे कहतीं, "ठाकुर की अब तसवीर में सेवा-पूजा करना बहुत सहज हो गया है। अच्छी तरह भोग दो और खुद ही प्रसाद पाओ। यदि सच ही ठाकुर खा लेते, तब कौन किस प्रकार भोग चढ़ाता कहा नहीं जा सकता! ठाकुर की बीमारी के समय खर्च के लिए पैसों को लेकर मनमुटाव हुआ था।" माँ स्वयं के सम्बन्ध में कभी कभी इंगित करके कहतीं, "उस समय और किसने खबर ली थी? बस, ये ही तो कुछ फकीर लड़के थे, स्वयं के खाने का कोई ठिकाना नहीं, सिर छुपाने का कोई ठौर नहीं, फिर भी इन्हीं लोगों ने तो यथासम्भव सब किया था।" विषयी लोगों की भक्ति में गम्भीरता और दृढ़ता नहीं होती, इस सम्बन्ध में ठाकुर का नाम लेकर माँ कहतीं, 'ठाकुर कहते, विषयी लोग स्प्रिंग की गद्दी हैं, बैठते ही दब जाते हैं। फिर उठते ही जैसे के तैसे हो जाते हैं। संसारी लोगों की भाव-भक्ति तपे लोहे पर पड़े पानी के छींटे के समान है। पड़ते न पड़ते सूखकर उड़ जाता है।" विषयों के बीच रहते हुए भगवद्-भजन करना बड़ा कठिन काम है, इसलिए जहाँ तक सम्भव हो, झंझट कम करके निश्चिन्त हो उनको पुकारने की ही बात माँ कहती थीं। अपने शिष्य-सन्तानों में किसी किसी के भीतर जब वे प्रबल भोग-तृष्णा, खाने-पहिनने की चीजों के प्रति अत्यधिक आकर्षण और सदैव अशान्ति का भोग देखतीं, तो उन्हें

बड़ा दुःख होता। समय समय पर सदुपदेश तो देतीं, पर उन सब व्यक्तियों के अन्दर दुर्बलता स्पष्ट देख वे दुःखित होने पर भी चुप रहतीं। वे जानती थीं कि वे लोग स्वयं को नहीं बचा पाएँगे; भोग किये बिना उनमें निवृत्ति नहीं आएगी। इसलिए रोकने की बात उठने पर अफसोस करती हुई कहतीं, "अन्तर में भोग-तृष्णा प्रबल है, इसलिए ऐसा कर रहा है।"

उनके शिष्यों में से कोई कभी जयरामवाटी में उनके समीप रहने की इच्छा करता, तो वे कहतीं "मैं यहाँ औरतों के साथ रहती हूँ, औरतों के बीच पुरुष लोगों का रहना सुविधाजनक नहीं होगा।" काम-काज की वजह से समय समय पर जो सब शिष्य लोग यहाँ रहते, माँ उन लोगों का भी घर के भीतर जब-तब आना अथवा घर की स्त्रियों के साथ मिलना-जुलना पसन्द नहीं करती थीं। यही नहीं, वे उन लोगों को भीतर अधिक न आने के लिए सावधान भी कर देती थीं। इसके बावजूद यदि किसी को भूल से बार-बार आना-जाना करते देखतीं, तो स्पष्ट रूप से उसे टोकते हुई कहतीं, "भीतर औरतें रहती हैं, सब समय वे लोग कपड़े वपड़े सँभालकर नहीं रख पातीं। कभी कभी खुले बदन भी बैठे रहती हैं; अचानक जब तब किसी पुरुष के आ जाने से उनकी लज्जा-शर्म को चोट पहुँचती है। लड़के लोग क्यों ऐसा आकर औरतों को अड़चन में डालेंगे ?" माँ का एक शिष्य माँ के सावधान करने के

बावजूद काम के बहाने भीतर आकर लड़कियों से मिलना जुलना करता। फलस्वरूप वह अन्त मे विपत्ति में पड़ा था। माँ बाद में अपने कमजोर मनवाले शिष्यों को उसका उदाहरण देकर भक्त-महिलाओं के साथ भी घनिष्ठता करने के लिए मना करतीं, यहाँ तक कि अपने पास भी अधिक देर तक बैठने नही देती।

(क्रमश:)

●

प्रश्न : मैं ध्यान करते समय अपने मन को एकाग्र नहीं कर पाता। मेरा मन बहुत अस्थिर और चंचल है।

उत्तर : यह विशेष कुछ नहीं– मन का स्वभाव ही वैसा है, जैसे आंख और कान का स्वभाव होता है नियमित रूप से ध्यान करना। भगवान् का नाम इन्द्रियों से अधिक शक्तिशाली होता है। हमेशा सोचना कि ठाकुर तुम्हारे पीछे हैं। अपनी त्रुटियों पर चिन्ता मत करना।

–श्री माँ शारदा

# सपार्षद-श्रीरामकृष्ण-वन्दना

स्वामी वागीश्वरानन्द

रामकृष्ण मठ, नागपुर

(धुन–प्रभाती।ताल-कहरवा)

जयतु जयतु प्रभु 'रामकृष्ण' जय
भवबन्धन-परिहारी ।
जयतु 'सारदे' जगजननी जय
त्रिभुवन-पावनकारी ॥
जयतु 'विवेकानन्द' स्वामि जय
प्रभुलीला सहचारी ।
प्रभुमानससुत कृष्णसखा जय
'ब्रह्मानन्द'–विहारी ॥ १ ॥
'योगानन्द' 'निरंजन' जय जय
साधुसंघ-हितकारी ।
जय 'अद्वैतानन्द' स्वामि जय
एकनिष्ठ व्रतचारी ॥
'प्रेमानन्द' प्रेमघन जय जय
शुद्धसत्त्व-तनुधारी ।
'रामकृष्ण-आनन्दशशी' जय
गुरुपदसेवाकारी ॥ २ ॥
जयतु 'सारदानन्द' सारदा-माँ के
सेवक द्वारी ।
प्रभुसेवक 'अद्भुतानन्द' जय
अद्भुत-लीलाकारी ॥

महापुरुष 'श्रीशिवानन्द' जय
शोक-ताप-भयहारी ।
जयतु 'तुरीयानन्द' त्यागिवर
मोहतिमिर-अपसारी ॥३॥
'त्रिगुणातीतानन्द' स्वामि जय
प्रभुसन्देश-प्रसारी ।
जयतु 'अभेदानन्द' तपस्वी
जय वेदान्त-प्रचारी ॥
जय 'सुबोध' शिशु, जय 'गंगाधर'
शिवसेवाव्रतधारी ।
जय 'विज्ञानानन्द' ज्ञानघन,
जय अज्ञान-निवारी ॥४॥
'गिरिश' 'राम' 'बलराम' 'सुरेन्द्र'
'महेन्द्र' आदि सहकारी ।
रामकृष्ण-भक्तन सब जय जय
तुमको प्रणति हमारी ॥
रामकृष्ण के पावन मंगल
चरण स्पर्श-अधिकारी ।
जड़-चेतन सब वस्तु तथा स्थल
जय हो सदा तुम्हारी ॥५॥

# श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें:-

## गिरीश चन्द्र घोष

*स्वामी प्रभानन्द*

श्रीरामकृष्ण कलकत्ता हाईकोर्ट के अटर्नी दीनानाथ बसु के मकान पर पधारे हुए थे।[1] यह घटना १८७६ ई. के पूर्वार्ध की है। केशवचन्द्र सेन और अन्य कुछ ब्राह्मभक्त उनके सम्मुख बैठे हुए थे। अपने वार्तालाप के बीच परमहंसदेव ने, जैसा कि श्रीरामकृष्ण उस समय कहलाते थे, एक भजन गाया, जिसका भावार्थ था -- "ओ श्यामा, अपने हाथ का खड्ग फेंक दो और उसकी जगह बाँसुरी धारण कर लो" -- इत्यादि। हठात् उन्हें गहरी समाधि लग गयी।[2] नेत्र स्थिर हो गये और मुख दिव्य आभा से आलोकित हो उठा। बाह्यज्ञान होने पर वे पुनः उपदेश देने लगे। बीच बीच में वे भाव-समाधि में डूब जाते। केशव और अन्य लोग उनके शब्दों को तन्मय हो सुन रहे थे। उसी समय पड़ोस में रहनेवाले एक सज्जन गिरीश चन्द्र घोष ने बैठक में प्रवेश

---

१. दीनानाथ के सबसे छोटे भाई पुलिस सुपरिन्टेंडेंड कालीनाथ बसु केशवचन्द्र सेन के अनन्य भक्तों में से थे एवं उनके अनुरोध से उन्होंने श्रीरामकृष्ण को अपने घर आमंत्रित किया था। श्रीरामकृष्ण के शुभागमन से उत्साह का वातावरण निर्मित हो गया था। वहाँ से श्रीरामकृष्ण हृदय को साथ ले केशव एवं अन्य ब्राह्म-भक्तों के संग में दीनानाथ बसु के यहाँ पधारे थे।

२. स्वामी अखण्डानन्द लिखित 'श्रीरामकृष्ण-स्मृति', उद्बोधन, ४१ वाँ अंक पृ, १४५।।

किया। सन्ध्या हो गयी थी एवं परमहंसदेव के सामने चिराग जलाकर रख दिये गये थे। श्रीरामकृष्णदेव क्षीण-काय थे और तब लगभग चालीस वर्ष के थे। गिरीश ने उन्हें बारम्बार यह पूछते सुना--'क्या शाम हो गयी? क्या शाम हो गयी ?'' गिरीश कौतूहलवश वहाँ यह देखने आये थे कि दक्षिणेश्वर के ये परमहंस क्या सचमुच वैसे ही हैं, जैसा कि ब्राह्म-भक्त दावा करते हैं ? कुछ दिन पूर्व उन्होंने 'इण्डियन मिरर' में परमहंस के सम्बन्ध में पढ़ा था। जब गिरीश न उस सामान्य से दिखनेवाले व्यक्ति को, जिसके सामने चिराग जल रहे थे, यह पूछते देखा कि, "क्या शाम हो गयी?" तब उनका मन सन्देह और अवज्ञा से भर गया। "यह ढोंग है! शाम हो गयी है। उसके सामने चिराग जल रहे हैं। इसके बावजूद वह नहीं समझ पा रहा है कि शाम हुई है या नहीं!"--ऐसा सोचते हुए गिरीश वहाँ से चले गये।

× × ×

गिरीश का जन्म २८ फरवरी, १८४४ ई. को हुआ था। वे नीलकमल घोष की आठवीं सन्तान थे। उन्होंने ग्यारह वर्ष की आयु में माँ को और चौदह वर्ष की आयु में पिता को खो दिया था। उनकी एकमात्र संरक्षक उनकी बड़ी बहन कृष्णकिशोरी थीं, जिनके लिए गिरीश को अनुशासन में रखना सम्भव न था। वे अपने दिन आवारागर्दी, मस्ती और जवानी की उच्छृंखलता में बिताते। कृष्णकिशोरी ने उनकी उच्छृंखलता में

सुधार आने की आशा से शीघ्र उनका विवाह कर दिया। पर उनकी आशा फलीभूत नहीं हुई। गिरीश की विद्रोही प्रकृति ने समस्त नैतिक मान्यताओं को तोड़ने की दिशा में उन्हें प्रवृत्त किया। अपनी आजीविका चलाने के लिए वे एक व्यापारिक फर्म में छुटपुट काम करने लगे। पन्द्रह वर्ष तक विभिन्न पदों पर कार्य करने के पश्चात् वे इण्डियन लीग के ऑफिस में बड़े बाबू के पद पर नियुक्त हुए। परन्तु उनका अधिकांश समय और शक्ति बीतती शौकिया अभिनय करने तथा गीत और नाटक लिखने में एवं नाना प्रकार की ऐयाशियों में। अपने जीवन की चौथी दशाब्दी में उन्हें एक उभरते हुए नाट्यकार तथा उत्कृष्ट श्रेणी के अभिनेता के रूप में प्रसिद्धि मिलनी शुरू हो गयी थी। उन्होंने दूसरे अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को भी प्रशिक्षित किया और उनके नेतृत्व में बंगाली रंगमंच को राष्ट्रीय स्तर की ख्याति मिली। सन् १८८३ में उनके प्रयास से स्टार थियेटर की स्थापना हुई। यद्यपि बंगाल में आधुनिक नाटक के प्रणेता के रूप में उनको सम्मानित किया गया, तथापि कलकत्ता का संरक्षणशील हिन्दू समाज उच्छृंखल प्रकृति के गिरीश के अनैतिक दुराचारों के लोकापवादों से विकल था।

गिरीश में प्रतिभा और ऐयाशी साथ साथ थीं। वे नास्तिक थे, तथापि कभी कभी उनके हृदय के किसी कोने में नास्तिकता के स्थान पर धर्म-साधना की

इच्छा जाग उठती। इस प्रकार की विरोधी प्रवृत्तियाँ उनके भीतर कभी कभी विचित्र रूप से प्रकट हुआ करतीं। एक बार दुर्गापूजा के कुछ ही पहले उनके पड़ोसियों ने उनके साथ एक खेल किया। बहुत भोर में उन लोगों ने गिरीश के घर की चार दीवारी के भीतर दुर्गा की एक प्रतिमा रख दी और यह देखने लगे कि उन पर क्या प्रतिक्रिया होती है। गिरीश की प्रतिक्रिया बड़ी उग्र थी। क्रुद्ध हो उन्होंने एक कुल्हाड़ी ले उस मिट्टी की मूर्ति के टुकड़े टुकड़े कर दिये और उसे अपने घर के पिछवाड़े की बाड़ी में गाड़ दिया। उनके परिवार और पड़ोस के सभी लोग आशंकित हो उठे। अपने मित्र कालीनाथ बसु के आग्रह पर गिरीश ने कुछ दिनों ब्राह्म समाज की सभाओं में भाग लिया, पर फिर बन्द कर दिया, कुछ दिनों तक वे माँ काली के उपासक बने रहे। इन्हीं दिनों एक दिन रंगमंच के अपने एक अभिनय के बाद उन्हें स्वप्न में माँ के दर्शन मिले, जिसमें माँ ने शाप देते हुए कहा कि उनकी कलाकार के रूप मे प्रसिद्धि नष्ट हो जायगी।[3] इसके बाद वे नाटककार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हो गये। उन्होंने अस्सी के लगभग सामाजिक, ऐतिहासिक एवं धार्मिक नाटक लिखे। उनके सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा है कि उनका जीवन झूठ और सच, मद्यपान

३. श्रीशचन्द्र मतीलाल, 'भक्त गिरीशचन्द्र' उद्बोधन, खण्ड १५, अंक ४।

और मद्य त्याग, कल्पना और अनुभूति, संशय और विश्वास, वासना के बहाव और उच्चतर जीवन के खिंचाव, दिल और दिमाग, तथा नास्तिकता और आस्तिकता के बीच संघर्ष की एक लम्बी कहानी रहा है।[४]

गिरीश की प्रथम पत्नी का देहान्त सन् १८७४ में हुआ था। इण्डियन लीग में नौकरी करते समय उन्होंने सिमुलिया की सूरत कुमारी मित्र से पुनः विवाह किया। इसके बाद छह महीने भी न बीते थे कि घातक प्रकार के हैजे ने गिरीश को घेर लिया। चिकित्सकों ने उनके सुधरने की सभी आशाएँ छोड़ दीं। अर्द्ध मूर्छावस्था में गिरीश ने स्वप्न में लाल किनार की साड़ी पहने हुए एक देवी के दर्शन किये।[५] देवी के आदेश से उन्होंने जगन्नाथपुरी का महाप्रसाद ग्रहण किया और तब से उनकी दशा में सुधार दिखने लगा। क्रमशः उनके स्वास्थ्य में तो सुधार आ गया, पर बाद में होनेवाली पारिवारिक दुर्घटनाओं और लगातार कई लोगों की मृत्यु ने उनके ऐयाशी जीवन को बढ़ावा ही

---

४. देवेन्द्रनाथ बसु: 'गिरीशचंद्र' (बंगला) (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३९), पृ १३ १५।

५. इस दैवीरूप के सम्बन्ध में गिरीश ने बहुत बाद में अपने एक गुरु भाई को बतलाया था, "सोलह साल बाद (अर्थात् १८९१ ई० में) जब मैं श्री माँ (शारदा देवी) के दर्शन के लिए पहली बार जयरामबाटी गया था, तब उन्हें देख अचरज एवं आनन्द से भर उठा कि जिस देवी ने महाप्रसाद देकर मेरे जीवन की रक्षा की थी, वह अन्य कोई नहीं श्री माँ ही थीं।"

दिया। फ़िर साथ ही साथ जन्म मृत्यु के रहस्य को भेदने की भी उनकी खोज चलती। फलस्वरूप उनका ज़ीवन घोर संक्रान्ति के क्षणा से गुजरने लगा। वे ग्लानि औरा दु:ख से अभिभूत हो गये और अतिशय अशान्ति की ज्वाल में जलने लगे। दिन इसी प्रकार बीतते गये कि सितम्बर १८७४ के प्रारम्भ में गिरीश ने श्रीरामकृष्ण को दूसरी बार बलराम बोस के घर पर देखा। बलराम बाब ने गिरीश समेत अपने अनेक पड़ोसियों को अपने घर पर दक्षिणेश्वर के परमहंस के आगमन के उपलक्ष में उनके दर्शनार्थ आमंत्रित किया था। वहाँ एक उत्सव-जैसा वातावरण बन गया था। गिरीश वहाँ गये, पर निराश हुए, क्योंकि सामान्यतया प्रचलित धारणा के अनुसार जैसे परमहंस की कल्पना उन्होंने की थी, उसके अनुरूप श्रीरामकृष्ण न थे। ये परमहंस तो आगन्तुकों के आने पर बार बार भूमि पर माथा नवाकर उनका अभिवादन करते। विधु नाम का एक नाचने-गाने वाली लड़की उनके पास बैठा भजन गाने के लिए प्रतीक्षा कर रही थी। गिरीश गोर से परमहंस के व्यवहार को परख रहे थे कि तभी उनके एक पूर्व परिचित मित्र आये और व्यंग्य करते हुए उनके कानों में फुसफुसाकर कहने लगे, "लगता है विधु से परमहंस की पुरानी जान-पहचान है। देखो न, तभी तो वह कितना हँस-हँसकर उसके साथ बात कर रहा है।" इस प्रकार का आक्षेप गिरीश को पसन्द न आया। इसी के बाद 'अमृत बाजार पत्रिका' के सम्पा-

दक्षिणेश्वर शिशिरकुमार घोष आये। ऐसा लगता है कि श्री रामकृष्ण से वे अधिक प्रभावित नहीं हुए, क्योंकि उन्होंने गिरीश से कहा, "चलो चलें, इन्हें बहुत देख लिया।" गिरीश की कुछ समय और रुकने की इच्छा थी; पर ऐसा स्वीकार करने में उन्हें संकोच हुआ। इसलिए शिशिर बाबू के जोर देने पर वे उनके साथ चल दिये।

गिरीशबाबू ने इसके बाद श्रीरामकृष्ण को स्टार थियेटर में देखा। इस घटना का वर्णन करने से पूर्व हम गिरीशबाबू की मानसिक अवस्था को समझ लें, जो स्वयं उन्होंने एक लेख में अपने सम्बन्ध में लिखा था [‘जन्मभूमि’ (बंगला), २७ वाँ अंक, क्र. ३। साथ ही देखें, ‘विवेक-ज्योति’, वर्ष १६, अंक २, पृष्ठ ४४]

"भगवान के अस्तित्व के विषय में मेरा संशय बना ही हुआ था। यदि भगवान् है, तो फिर कौन सा धर्म मानूं ?" मैंने अनेक तर्क किये, अनेक विचार किये, परन्तु कोई उत्तर न मिला। इससे मैं व्याकुल हो उठा . . .। मैं सोचता था, ‘जब प्रकृति भौतिक जीवन की सब आवश्यकताएँ—जैसे हवा, पानी, प्रकाश इत्यादि—प्रचुरता से प्रदान कर रही है, जिससे मनुष्य सुखपूर्वक उनका भोग कर सके, तब क्या कारण है कि अनन्त जीवन के लिए आवश्यक धर्म उस प्रकार उपलब्ध नहीं है ? वह सब मिथ्या है, क्योंकि न तो वह स्वाभाविक है और न मेरी पहुंच के अन्दर . . .।’ इस प्रकार दीर्घ चौदह वर्ष मैंने अवसाद के कुहासे में काटे।

"फिर दुर्दिन आये और मेरा चैन से रहना कठिन हो गया। भीतर अँधेरा, बाहर अँधेरा—सर्वत्र अँधेरा ही अँधेरा था। मैंने सोचा, 'क्या इस संकट से उबरने की कोई राह है?... मैंने आन्तरिकता के साथ अपने आपको ईश्वर (तारकनाथ शिव) की इच्छा में समर्पित कर दिया। मेरी प्रार्थना सफल हुई। संकट का यह जाल कटते फिर समय न लगा। मेरे अन्दर दृढ़ विश्वास जगा कि यह सच है कि भगवान् हैं।... परन्तु सभी कहते थे कि बिना गुरु के मुक्ति नहीं हो सकती। और साथ ही कहते कि गुरु को ईश्वर-जैसा देखना होगा। मेरी बुद्धि यह मानने को तैयार न थी। यह विचार ही मुझे परेशान कर डालता, क्योंकि मुझे लगता किसी मनुष्य को ईश्वर समझने से बढ़कर और कोई ईश्वर-निन्दा नहीं हो सकती। मैं, इसलिए, अकेला ही बिना किसी मानव-गुरु के लड़खड़ाते चलूँगा। मैं तारकनाथ की आराधना करूँगा...।

"इसी समय एक चित्रकार से मेरा परिचय हुआ था। यह सच है या नहीं यह तो मैं नहीं जानता, परन्तु एक दिन वह मुझसे बोला, 'मैं रोज भगवान् को भोग चढ़ाता हूँ और कुछ लक्षणों द्वारा मुझे यह विश्वास हो गया है कि वे उसे ग्रहण करते हैं। परन्तु ऐसा बिरला अनुभव तभी मिल सकता है, जब किसी ने गुरु की कृपा प्राप्त की हो।' मैं अधीर हो उठा। उससे विदा ले, अपने कमरे में आ, दरवाजा बन्द करके रो पड़ा।"

इससे स्पष्ट है कि आध्यात्मिक मार्गदर्शक के लिए उनका मन छटपटा रहा था।

यह सब सम्भवतः २१ सितम्बर, १८८४ को हुआ, सम्भवतः सुबह के किसी समय। उसी दिन शाम को श्रीरामकृष्ण कलकत्ते के ६८ बीडन स्ट्रीट पर स्थित स्टार थियेटर में गिरीशबाबू रचित 'चैतन्यलीला' देखने के लिए पधारे। उस नाटक ने बड़ी सफलता अर्जित की थी और कलकत्ता तथा आसपास के क्षेत्रों में धूम मचा रखी थी।[६] महेन्द्रनाथ गुप्त ('म'), महेन्द्रनाथ मुखर्जी, बलराम बोस एवं अन्य दो तीन भक्त श्रीरामकृष्ण के साथ थे। गिरीश बाबू थियेटर के कम्पाउण्ड में टहल रहे थे कि महेन्द्रनाथ मुखर्जी ने उनके पास पहुंचकर उनसे अनुरोध किया, "ठाकुर आपका नाटक देखने आये हैं। यदि आप उन्हें एक मुफ्त-पास दिलवा दें, तो अच्छा हो, नहीं तो हम लोग उनके लिए टिकट ले देंगे" "उनको टिकट लेने की कोई आवश्यकता नहीं है, पर अन्य सबको लेना होगा," ऐसा कहते हुए गिरीशबाबू श्रीरामकृष्ण के स्वागत के लिए बढ़े। श्रीरामकृष्ण उस समय गाड़ी से उतर रहे थे। रात्रि के ८॥ बज रहे थे। गिरीशबाबू श्रीरामकृष्ण को नमस्कार करते उससे पहले ही श्रीरामकृष्ण ने उनको झुककर नमस्कार किया। गिरीशबाबू ने नमस्कार का

६. 'चैतन्यलीला' नाटक स्टार थियेटर में सर्वप्रथम २ अगस्त १८८४ को खेला गया था।

जवाब दिया, इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने फिर झुककर नमस्कार किया। कुछ देर इसी प्रकार नमस्कार और प्रतिनमस्कार का नाटक चलता रहा। तब गिरीश ने सोचा कि ऐसे में तो यह सारी रात चलता रहेगा, इसलिए मन ही मन नमस्कार कर उन्होंने श्रीरामकृष्ण को ऊपर एक बॉक्स में बिठा दिया और एक सेवक को पंखा झलने के लिए तैनात कर दिया। गिरीश बाबू अस्वस्थ अनुभव कर रहे थे इसीलिए इसके बाद वे घर चले गये।" ऐसा लगता है कि इस समय भी उन्हें श्रीरामकृष्ण में कोई विशेष असाधारणता नहीं दिखी। महेन्द्रनाथ गुप्त श्रीरामकृष्ण की बगल में बैठे थे तथा बाबूराम आदि अन्य लोग उनके पीछे थे। नाटक प्रारम्भ हुआ। नाटक के भक्तिभरे भाव ने श्रीरामकृष्ण को मत्त बना दिया। अपने भाव के आवेग को भाँपते हुए उन्होंने बाबूराम को आगाह कर दिया, "देखो, अगर मुझे भावसमाधि हो, तो तुम लोग शोरगुल न मचाना, संसारी आदमी समझेंगे—ढकोसला है।" पर वे अपने को नहीं रोक पाये। आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे, कभी कभी उन्हें दिव्य भावावेश हो आता और कभी कभी तो भावसमाधि लग जाती। खेल समाप्त होने पर, श्रीरामकृष्ण कह उठे, "असल और नकल एक देखा।"[७]

जैसा कि श्रीरामकृष्ण का स्वभाव था, यदि पहले

७ 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', द्वितीय भाग, द्वितीय संस्करण, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. ३४६।

उन्होंने गिरीश की सम्भावनाओं को नहीं आँका था, तो इस समय अवश्य आँक लिया। उन्होंने समझ लिया कि यद्यपि गिरीश ऊपर से इतने कठोर दिखते हैं, पर भीतर से कोमल, विश्वासी और श्रद्धालु हैं। अपने दर्शनों को याद करते हुए उन्होंने एक बार कहा था --

"जब मैं काली के मन्दिर में अपने मन से बैठा था, तो उस समय देखा--एक मूर्ति नाच-नाचकर आ गयी। जब मैंने उससे पूछा कि तुम कौन हो, तो उसने कहा--'मैं भैरव हूँ, यहाँ आया हूँ।' फिर पूछने पर कि 'तुम्हारा क्या प्रयोजन है?' उसने उत्तर दिया--'तुम्हारा ही कार्य करूँगा।' गिरीश के मेरे पास आने पर मैंने देखा कि उस पर वही भैरव है।"[८]

इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण द्वारा कही कई बातें बहुत महत्त्व की हैं। अपने इस महान् शिष्य के थियेटर से होकर आने के बाद श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "... यदि दूसरों की बुद्धि अद्भुत है, तो गिरीश की उससे १५० प्रतिशत अधिक है, तात्पर्य यह है कि वह सबको बौना बना देता है।"[९] श्रीरामकृष्ण को यह भी कहते सुना गया था, "गिरीश का पाँच चवन्नी पाँच आने विश्वास है। कुछ दिन बाद उसकी अवस्था को देखकर

---

८ 'श्रीरामकृष्णभक्तमालिका', द्वितीय भाग, प्रथम संस्करण, वही, पृ. २७४।

९ 'प्रबुद्ध भारत' (अँगरेजी), अंक १७, पृ. ५८।

लोग आश्चर्यचकित हो जायँगे।"[१०] फिर उन्होंने यह भी कहा था, "गिरीश जैसे गृहस्थ भक्त अपने में एक अलग श्रेणी के हैं। वे योग और भोग दोनों चाहते हैं। उनका दृष्टिकोण रावण के जैसा है, जो स्वर्ग की अप्सराओं को भोगना चाहता था और साथ ही श्रीराम का साक्षात्कार करना भी।" इस प्रकार गिरीश की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को भाँपकर श्रीरामकृष्ण उनके जीवन को अनुकूल मोड़ देने के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

दूसरी ओर गिरीश ने श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में जैसी भी धारणा क्यों न बनायी हो, वे श्रीरामकृष्ण से प्रत्यक्ष भेंट को टाल नहीं सके। यह भेंट, जो कि दोनों के बीच प्रथम प्रभावी भेंट थी, एक महत्त्वपूर्ण घटना सिद्ध हुई। इसने लड़ाकू स्वभाववाले गिरीश के जीवन में एक परिवर्तन ला दिया। (इससे पूर्व की तीन मुलाकातें संक्षिप्त थीं और अनायास हुई थीं।) यह घटना स्टार थियेटर में गिरीशबाबू की श्रीरामकृष्ण से भेंट के तीन दिन बाद २४ सितम्बर, सन् १८८४ की है। इससे पूर्व कि इस घटना का वर्णन करें, हम गिरीशबाबू की मानसिक दशा का अन्य पहलू भी देख लें, जो स्वयं उन्होंने अपने एक बंगाली लेख में मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया था--

"भयानक द्वन्द्व मेरे हृदय को चीरे डाल रहे थे।

१० 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भाग २, प्रथम संस्करण, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. ९८।

वर्णन करने की बजाय उसकी कल्पना ही ठीक की जा सकती है। जैसे किसी आदमी को आँखों पर पट्टी बाँधकर जबरदस्ती एकान्त कमरे में ले जाकर बिना भोजन-पानी के बन्द कर दिया जाय, तो उसकी मानसिक दशा कैसी होगी ? यदि उसके मन की अवस्था की कल्पना आप कुछ कर सकते है, तो समझ लीजिए मेरी हालत भी ऐसी ही थी। कई बार आवेगों से मेरे प्राण रुक-से जाते। हताशा भरे विचार मेरे हृदय पर आरी चला रहे थे। बीते दिनों की याद पुनः पुनः जागती और हृदय पर छाये अन्धकार का छोर नजर न आता। ऐसी ही अवस्था में मैंने श्रीरामकृष्ण को अपनी गली से परम-भक्त बलरामबाबू के घर जाते हुए देखा था। पहली बार उनके प्रति ऐसा खिचाव मालूम हुआ, जिसे रोकना असम्भव था।"[११]

गिरीशबाबू अपने एक मित्र के घर के बरामदे में बैठे थे, जो दो रास्तों के संगम के पास पड़ता था। उन्होंने श्रीरामकृष्ण को नारायण आदि भक्तों के साथ अपनी तरफ धीरे धीरे आते देखा। गिरीशबाबू ने

---

११ 'तत्त्वमंजरी:' 'परमहंसदेवेर शिष्य-स्नेह', भा. ९, अंक ३ व ४। यह बेलुड़ मठ में श्रीरामकृष्ण जयन्ती समारोह के उपलक्ष में गिरीशबाबू द्वारा पढ़े एक भाषण का पुनः प्रकाशन था। 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट', मार्च-अप्रैल १९५३ के अंक में छपे इसके अंगरेजी अनुवाद का भाषान्तर 'विवेक-ज्योति', वर्ष १६, अंक २ के पृ. ४७ में देखें।

गौर किया कि नारायण ने उनकी तरफ इंगित करके श्रीरामकृष्ण से फुसफुसाकर कुछ कहा और सब श्रीरामकृष्ण ने उन्हें (गिरीश को) नमस्कार किया। गिरीशबाबू ने उनके नमस्कार का उत्तर दिया। श्रीरामकृष्ण उनके सामने से आगे की ओर पड़ोस के बलराम बोस के घर की तरफ बढ़ गये। गिरीश की समझ में नहीं आया कि कौन सा एक अदृश्य आकर्षण उन्हें श्रीरामकृष्ण की ओर खींच रहा था। उनकी इच्छा हुई कि दौड़कर उनके समीप पहुँच जायँ। उन्हीं के शब्दों में :

"कुछ ही दूर वे गये होंगे कि मेरी उनके साथ जाने की इच्छा होने लगी। मैं बेचैन हो उठा। वह कुछ ऐसा अलौकिक खिचाव था कि मैं एकदम बेबस था। उसके अनोखेपन को शब्दों में बताना मुश्किल है।"[१२] उसी समय एक भक्त श्रीरामकृष्ण का सन्देशा लेकर आये और बोले, "श्रीरामकृष्ण आपको याद कर रहे हैं।" गिरीशबाबू तुरत उसके साथ चल पड़े।

गिरीश के दम्भ और मिथ्याभिमान ने उन्हें अब तक एक सन्त के सम्बन्ध में अपनी पूर्व कल्पित मान्यताओं के उस पार देखने में बाधा दी थी। तथापि दक्षिणेश्वर के सन्त की बारम्बार की विनम्रता ने उन्हें अन्तर्मुखी बनने के लिए बाध्य किया। थियेटर में मिलने पर सन्त ने ही उन्हें पहले नमस्कार किया था। आज

१२. 'विवेक-ज्योति', वही, पृ ४७।

भी सन्त ने ही पहले उनका स्वागत किया। सन्त की विनम्रता गिरीश के अन्तस्तल की कठोर परतों को मानो चूर चूर करती हुई भीतर गहरी पैठ गयी।

श्रीरामकृष्ण बलरामबाबू के घर की बैठक में प्रविष्ट हुए, जहाँ बलरामबाबू एक तखत पर लेटे हुए थे। सम्भवतः वे अस्वस्थ थे। जैसे ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण को देखा, वे उठ खड़े हुए और श्रद्धापूर्वक उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। बलरामबाबू के साथ कुछ वार्तालाप होने के बाद श्रीरामकृष्ण कह उठे, अच्छा, मैं ठीक हूँ, मैं ठीक हूँ।" ऐसा कहते कहते उनमें एक परिवर्तन आ गया, जो गिरीशबाबू को बड़ा आश्चर्यजनक लगा। बाद में उन्हें पता लगा कि श्रीरामकृष्ण को भाव-समाधि लग गयी थी और उससे उनका बाह्यज्ञान लुप्त हो गया था। इसके थोड़ी देर बाद ही श्रीरामकृष्ण कह उठे, "यह ढोंग नहीं है! यह ढोंग नहीं है!" कुछ समय तक इस अवस्था में रहने के बाद उनकी बाह्य चेतना लौट आयी और उन्होंने अपना आसन ग्रहण किया।

यद्यपि गिरीश का दम्भ किसी देहधारी व्यक्ति को गुरु के उच्च स्थान पर स्वीकार नहीं कर सकता था, तथापि हृदय के गहनतम प्रदेश में वे गुरु को पाने के लिए आकुल थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण से पूछा, "महाशय, गुरु कौन होता है?" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "तुम जानते हो, गुरु कौन होता है? वह जोड़ी मिलानेवाला [१२] होता है।

१२. जोड़ी मिलानेवाला का अर्थ है वह व्यक्ति, जो

वह भक्त का भगवान् से मिलन करवा देता है।" कुछ समय उपरान्त फिर कहने लगे, "तुम्हारे गुरु का चुनाव तो हो गया है।" गिरीश का हृदय अकथनीय आनन्द से भर उठा। बिना किसी दुविधा के उन्होंने श्रीरामकृष्ण की बातों को स्वीकार कर लिया। श्रीरामकृष्ण के इस कथन से कि उनके गुरु का चुनाव हो गया है, गिरीश को बहुत राहत मिली।

इसके बाद गिरीश बाबू ने पूछा, "अच्छा मंत्र क्या है?"

"भगवान् का नाम।" इसे समझाने के लिए श्री रामकृष्ण ने एक कहानी सुनायी। प्रसिद्ध वैष्णव सन्त रामानन्द जी प्रतिदिन सुबह भोर में स्नान के लिए गंगाजी जाते। एक दिन कबीर नाम का एक जुलाहा घाट की सीढ़ी पर लेटा था। घाट में उतरते समय रामानन्दजी का पैर कबीर से छू गया और उन्होंने राम का पवित्र नाम उच्चारित किया। कबीर ने उसे अपना मंत्र मानकर स्वीकार कर लिया और उसी को जपते जपते बाद में भगवान्-लाभ कर लिया।

श्रीरामकृष्ण की संवेदनशीलता तथा गिरीश और उनकी समस्याओं की गहराई से समझ ने गिरीश को प्रभावित कर दिया। सन्त की उनके प्रति सहानुभूति

---

ब्याह तै कराता है और वर-वधू के मिलन का संयोग जुटाता है। यह सब श्रीरामकृष्ण ने बोलचाल की भाषा में कहा था, जो बहुत प्रभावी था।

एवं स्नेह एकदम स्पष्ट था। गिरीश श्रीरामकृष्ण के प्रति अधिकाधिक खिंचाव का अनुभव करने लगे।

वार्तालाप चल रहा था। श्रीरामकृष्ण के कहने का ढंग ऐसा था कि गिरीश को लगने लगा मानो वे उनके पुराने परिचित हों। बातें चलती चलती थियेटर के सम्बन्ध में होने लगीं। श्रीरामकृष्ण ने कहा, "तुम्हारा नाटक मुझे बहुत पसन्द आया। ज्ञान-सूर्य तुम पर प्रकाशित होने लगा है। तुम्हारे भीतर का सारा कल्मष धुल जाएगा। बहुत जल्दी भक्ति का उदय होगा, जिससे तुम्हारा जीवन परम आनन्द और शान्ति से मधुर हो उठगा।"[१४] पर गिरीश इस प्रकार की प्रशंसा को स्वीकार नहीं कर सके, क्योंकि वे समझते थे कि उसके वे अधिकारी नहीं हैं। उन्होंने कहा कि नाटक तो उन्होंने पैसा कमाने की दृष्टि से लिखे हैं। श्रीरामकृष्ण ने उनका उत्तर अनसुना कर दिया और पूछा, "क्या तुम मुझे अपने थियेटर में ले जाकर अपना कोई दूसरा नाटक दिखा सकते हो?"

"जी हाँ, जिस दिन आप कहें।"

"मुझसे टिकट का कुछ पैसा अवश्य लेना।"

"ठीक है, आप आठ आने दे दीजिएगा।"

"वह तो बालकनी की उस रद्दी सीट की टिकट है?"

---

१४. अविनाश चन्द्र गगोपाध्याय: 'गिरीशचन्द्र' (बँगला); पृ० ३४२।

"ओह, नहीं, आपको वहाँ नहीं बैठना होगा। आप पिछली बार जहाँ बैठे थे, वहीं बैठिएगा।"

"तब तुम्हें एक रुपया लेना होगा।"

"जैसी आपकी इच्छा।"

बलरामबाबू ने कुछ मिठाई लाकर श्रीरामकृष्ण के सामने पेश की। उन्होंने उसमें से एक छोटा सा टुकड़ा तोड़कर खाया। वहाँ उपस्थित लोगों ने शेष मिठाई को प्रसादस्वरूप गहण किया। गिरीश की इच्छा हुई कि वे भी थोड़ा सा ग्रहण करें, पर संकोचवश कि कहीं दूसरे लोग इसकी चर्चा न करने लग जायँ, वे रुक गये।

इसके बाद ही हरिपद नामक एक युवक भक्त और गिरीशबाबू ने श्रीरामकृष्ण को प्रणाम करके विदा ली। मार्ग में हरिपद ने पूछा, "उनके सम्बन्ध में आप क्या सोचते हैं ?" गिरीश मे उत्तर दिया, "निस्सन्देह, वे महान् भक्त हैं।" वे प्रसन्न थे कि गुरु खोजने के लिए उन्हें अब चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

इस भेंट के बाद से गिरीशबाबू बड़ी गम्भीरता से सोचने लगे-- "आखिर यह पुरुष कौन है, जो इतनी आत्मीयता के साथ मुझसे बातें करता है कि मुझे लगने लगता है कि वह मेरा अपना है ?" उनके भीतर कुछ हो गया था, जिसे व्यक्त कर पाना उनके लिए कठिन था। उस दिन से उनके लिए जीवन का एक दूसरा ही अर्थ हो गया। इस प्रकार की और कई भेंटें थोड़े थोड़े अन्तर

से हुई। वे ठाकुर की ओर अधिकाधिक आकर्षण का अनुभव कर रहे थे, तथापि कभी कभी उनके प्रति अपमान-जनक शब्दों का भी उपयोग करते, उनके सामने ही शराब पीते और इस प्रकार हरकतें करते कि अन्य दूसरे भक्त अचम्भित रह जाते। "ठाकुर, सिर्फ उपदेश से काम नहीं चलेगा," एक बार गिरीशबाबू ने श्रीरामकृष्ण से कहा, "मैं स्वयं बहुत से उपदेश जानता हूँ। उनसे मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। मैं कुछ ठोस चाहता हूँ। ऐसा कुछ कीजिए, जिससे मेरे जीवन में परिवर्तन आ जाय।"[१५] गिरीशबाबू के ऐसा कहने के पहले से ही श्रीरामकृष्ण यह सब जानते थे। वे तो गिरीशबाबू के प्रति मातृवत् स्नेह रखते। धीरे धीरे मात्र उनके उपदेशों ने ही नहीं, अपितु उनके गहरे प्रेम के प्रभाव ने एक चमत्कार उत्पन्न कर दिया, उसने गिरीश की उद्दामता को नियन्त्रित बना धीरे धीरे उनमें एक अद्भुत परिवर्तन ला दिया। गिरीश ने भी शीघ्र इस परिवर्तन का कुछ कुछ अनुभव किया। उन्होंने स्वयं इस सम्बन्ध में लिखा है—

"मेरा हृदय आनन्द से भर गया। मुझे लग रहा था मानो मेरा नया जन्म हुआ हो। मैं अब पूरी तरह बदला हुआ मनुष्य था। मेरे मन में अब किसी प्रकार का संशय या द्वन्द्व न था। 'भगवान् हैं। भगवान् मेरे

१५ रामचन्द्र दत्त : 'श्री श्रीपरमहंसदेवेर जीवनवृत्तान्त'(बँगला)' सप्तम संस्करण, पृ. १४४।

आश्रयदाता हैं। मैंने इन देवतुल्य महापुरुष की शरण पायी है।' इस प्रकार के विचार रात-दिन मेरे मन में घूमते रहते। सोते-जागते यही भाव बना रहता--'मुझे क्या भय है? मैंने उन्हें पा लिया है, जो मेरे अपने हैं। सबसे बड़ा भय-- मृत्यु-भय चला गया है, इसलिए अब यह संसार मुझे और नहीं बाँध सकता'।"[१६]

ठाकुर के दिव्य, अहैतुक प्रेम ने धीरे धीरे गिरीश के हृदय पर पूरा अधिकार जमा लिया। गिरीशबाबू अपने परवर्ती जीवन में कहा करते--

"श्रीरामकृष्ण मेरे हृदय पर पूरी तरह छा गये हैं। यह अधिकार उन्होंने अपने प्रेम द्वारा पाया है। काम-क्रोध आदि सारी वासनाएं इस अलौकिक प्रेम के अनुभव करने से नष्ट हो जाती हैं--किसी अन्य साधना की आवश्यकता नहीं।"

जैसे जैसे श्रीरामकृष्ण का प्रभाव गिरीश पर छा रहा था, वैसे वैसे वे अपने अन्दर विचार करने लगे कि क्या अपना थियेटरवाला काम छोड़ दें। पर श्रीरामकृष्ण ने कहा, "अभी जो कर रहे हो, वही करते जाओ। इससे बहुत कुछ प्राप्त होगा। इससे लोगों को शिक्षा मिलेगी।" श्रीरामकृष्ण का प्रभाव गिरीशबाबू के भीतर गहराई में प्रविष्ट हो अपने आप को गहरी धार्मिक एवं नैतिक भावनाओं के रूप में उनके बिल्वमंगल, काला पहाड़, रूप-सनातन, पूर्णचन्द्र, विषाद, नशिरम् इत्यादि नाटकों

१६. 'विवेक-ज्योति', वही, पृ. ५६।

के माध्यम से प्रकट करने लगा। हेमेन्द्रनाथ दासगुप्ता ने बहुत सही बात कही है, "इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि गिरीश के जीवन में, और इसलिए बंगाली नाटक के इतिहास में जो मोड़ आया, वह अतीत और वर्तमान के बंगाली नाट्यकारों में महानतम, गिरीशचन्द्र घोष के हृदय और मस्तिष्क पर श्रीरामकृष्ण के पुनीत प्रभाव के फलस्वरूप आया था।"[१७] और आज भी श्रीरामकृष्ण कलकत्ते के सारे सार्वजनिक थियेटरों के संरक्षक सन्त बने हुए हैं।

गिरीश के भाव को पूरी तरह समझने के फलस्वरूप एक दिन श्रीरामकृष्ण उनका समस्त भार लेने को तैयार हो गये और उन्हें 'बकलमा' (वकालतनामा या आममुख्तारनामा) देने के लिए कहा। गिरीश ने प्रसन्नता से इसे स्वीकार कर लिया।

"किन्तु नियम के बन्धन को असह्य समझकर उसके बदले में उससे भी कहीं सौ-गने अधिक प्रेम के बन्धन को उन्होंने स्वेच्छापूर्वक अपने गले में डाल लिया है, इस बात का उस समय उन्हें अनुभव नहीं हुआ। . . . फिर भी गिरीशबाबू उस समय निश्चिन्त हो चुके थे तथा खाते-पीते, उठते-बैठते यह एक ही बात उनके मन में उदित हो रही थी कि 'श्रीरामकृष्णदेव

१७. हेमेन्द्रनाथ दासगुप्ता :'The Influence of Ramakrishn Paramahansa on Girish Chandra's Drama,' प्रबुद्ध भारत', अप्रैल १९३३, पृ. १९६।

ने मेरा सारा भार ग्रहण कर लिया है'। यही सतत चिन्तन उनके समस्त कार्य तथा मानसिक भावों पर अपनी छाप लगाकर अधिपत्य स्थापित करता हुआ उनका आमूल परिवर्तन कर रहा था।"[१८]

स्वयं के प्रति ईमानदार और निष्ठावान् होने के कारण तथा जिसे प्रिय जान लिया, उसके प्रति पूरी तरह से समर्पित होने के कारण गिरीशबाबू ने ठाकुर के प्यार से दिये गये सभी इलाज को स्वीकार किया। जैसे जैसे दिन बीतते गये, ठाकुर के प्रेम का बन्धन गिरीशबाबू को उतना ही आबद्ध करता गया। अन्त में उन्होंने अपने को पूरी तरह ईश्वरेच्छा पर समर्पित कर दिया और लोग उन्हें अकसर कहते सुनते, "जैसी उसकी इच्छा।" स्वामी विवेकानन्द जी ने सच ही कहा है, "मुझे केवल गिरीशबाबू में सच्ची आत्मसमर्पण की भावना--प्रभु के सेवक होने की सच्ची भावना--दिखती है। और वे इस प्रकार के आत्मत्याग के लिए सदैव तत्पर रहते थे, इसीलिए क्या श्रीरामकृष्ण ने उनका सब भार अपने पर नहीं ले लिया? प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण की कितनी अनन्य भावना है! मुझे उनके समान दूसरा कोई नहीं दिखा। और उन्हीं से मैंने आत्मसमर्पण का पाठ पढ़ा है।"[१९]

---

१८. श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग, वही, पृ० ६।
१९. "विवेकानन्द साहित्य' खण्ड ८, प्रथम सं०, (अद्वैत आश्रम मायावती), पृ २४५।

श्रीरामकृष्ण की गिरीश के सम्बन्ध में वह भविष्यवाणी कि 'तुम दिन पर दिन शुद्ध होओगे, दिन दिन तुम्हारी उन्नति होगी, लोगों को देखकर आश्चर्य होगा' [२०]——अक्षरशः सत्य उतरी थी। गिरीशबाबू पूरी तरह से ठाकुरमय हो गये थे। वे ठाकुर में ही जीते, चलते-फिरते और उन्हीं में रमे रहते। अतः यह कोई आश्चर्य नहीं कि लोग उन्हें यह कहते सुनते, "उनको (श्रीरामकृष्ण को) मानना, प्रेम करना, पूजा करना कठिन नहीं है, पर उनको भूल पाना कठिन है।"[२१] बाहर के लोग गिरीशबाबू को मात्र एक कवि,

२०. 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भा. ३, द्वितीय सं. (रामकृष्ण मठ, नागपुर) पृ. ९१। गिरीश के परिवर्तन को बहुत आनन्दित होकर स्वामी प्रेमानन्दजी ने अपने सन् १९१० में लिखे एक पत्र में इस प्रकार चित्रित किया है——"गिरीशबाबू बनारस में हैं। उनके स्वास्थ्य में काफी सुधार हो गया है . . . अहा! उनके स्वभाव में कितना अद्भुत परिवर्तन हम देख रहे हैं। ठाकुर ने भविष्यवाणी की थी, 'लोगों को तुम्हें देखकर आश्चर्य होगा'। यह सही अर्थों में पूरी उतरी है . . .। उनके समान सन्त स्वभाववाले साधु भी बिरले नजर आते हैं।"

२१. १५-८-१८९७ को हुई रामकृष्ण मिशन की १७ वीं बैठक की रिपोर्ट। १४ वीं बैठक (१५-७-१८९७) में गिरीश ने उसी भाव में कहा था, "मैं नहीं जानता कि ईश्वर के सम्बन्ध में शास्त्र क्या कहते हैं, परन्तु मेरे अन्दर यह आकांक्षा थी कि वह, जो ईश्वर है, मुझे उसी प्रकार प्यार करे, जैसा मैं स्वयं को करता हूँ। वे (श्रीरामकृष्ण) मुझे उसी प्रकार प्यार करते थे, जैसा मैं स्वयं को करता हूँ। उनको (श्रीरामकृष्ण को) छोड़कर मेरा कोई और

साहित्यिक, एक अभिनेता, एक नाट्यकार, एक राष्ट्रभक्त और सर्वोपरि, एक 'पतित' व्यक्ति मानते, पर उनके निकट सम्पर्क में आनेवाले लोग अचरज से भरकर एक पतित व्यक्ति को सन्त बनते देखते। और यह परिवर्तन ऐसा विलक्षण था कि श्रीरामकृष्ण ने उन्हें अपने सन्देश के प्रचार के लिए एक विशिष्ट प्रवक्ता के रूप में चुन लिया था। ८ जनवरी, सन् १९१२ को उनके इस प्रतिभामय बहुरंगी जीवन का तिरोधान हो गया।

---

सुहृद न था, जिन्होंने मेरे दुर्गुणों को सद्गुणों में परिवर्तित कर दिया। मैं स्वयं को जितना प्यार करता, उससे भी अधिक वे मुझे प्यार करते।"

---

शिशु का स्वभाव होता है धूल और कीचड़ में शरीर को गन्दा कर लेना; किन्तु माँ उसे सब समय गन्दा नहीं रहने देती। वह बीच बीच में उसे धो-पोंछकर साफ रखती है। इसी प्रकार पाप करना मनुष्य का स्वभाव है; किन्तु यदि उसका पाप करना निश्चित है तो उससे दुगुना यह भी निश्चित है कि भगवान् उसकी पापमुक्ति के लिए नये नये उपाय निकाल लेते हैं।

—श्रीरामकृष्ण देव

# विभीषण–शरणागति (३)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर 'विभीषण-शरणागति' पर एक प्रवचनमाला प्रदान की थी। प्रस्तुत लेख उसी का तीसरा प्रवचन है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके आभारी हैं।—स०)

विभीषण रावण द्वारा अपमानित हो उसका परित्याग कर भगवान् राम की शरण में चल पड़ते हैं। बीच में एक विशाल समुद्र पड़ता है, जिसे वे बड़ी सरलता से तथा बहुत थोड़े समय में पार कर लेते हैं– 'आयउ सपदि सिंधु एहिं पारा' (५/४२/१)। अब भले ही विभीषण ने इस सिन्धु को शीघ्र पार कर लिया हो, पर जब हम उनके समूचे जीवन पर दृष्टिपात करते हैं, तो लगता है कि पूर्व में उन्हें अनेक समुद्रों को पार करना पड़ा, तब कहीं जाकर वह मंगलमयी घड़ी आयी, जब वे भगवान् के शरणागत होकर, उनके प्रति पूर्णतः समर्पित होकर अपने जीवन को पूर्ण और धन्य बना सके। उस प्रक्रिया का प्रारम्भ तब से हुआ था, जब पूर्वजन्म में वे धर्मरुचि थे तथा रावण और कुम्भकर्ण क्रमशः प्रतापभानु और अरिमर्दन।

हम पूर्व में कह चुके हैं कि धर्मरुचि प्रतापभानु के हित के प्रति इतना अनुरक्त था कि वह भी प्रतापभानु के साथ साथ राक्षस-कुल में जन्म लेता है। गोस्वामीजी एक संकेत देते हैं कि पहले तो वह मन्त्री था, पर अब भाई के रूप में जन्म लेता है और इस प्रकार उनका आपस में और भी निकट का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। गोस्वामीजी लिखते हैं--

सचिव जो रहा धर्मरुचि जासू।
भयउ बिमात्र बंधु लघु तासू ॥ १।१७५।४

--प्रतापभानु का मन्त्री धर्मरुचि रावण का सौतेला छोटा भाई होकर जन्म लेता है। 'बिमात्र' एवं 'लघु बंधु' कहकर मानो विभीषण की गरिमा को समाप्त-सा कर दिया गया है। एक तो विभीषण रावण और कुम्भकर्ण के छोटे भाई के रूप में जन्म लेते हैं और दूसरे, सौतेली माता को कोख से आते हैं। गोस्वामीजी ने उनका इस प्रकार का परिचय देकर एक गूढ़ आध्यात्मिक सत्य की ओर संकेत कर दिया है। पुराणों में हमें ऐसी प्रक्रिया के कई उदाहरण मिलते हैं, जहाँ मूल में पिता तो एक हैं, पर माता अलग अलग होने के कारण अलग अलग सन्ततियाँ बन जाती हैं। उदाहरणार्थ देवता और दैत्य। दोनों सन्ततियों के पिता कश्यप हैं। उनके दो पत्नियाँ हैं---दिति और अदिति। दिति से दैत्यों का जन्म होता है और अदिति से देवताओं का। दूसरा उदाहरण है सर्प और गरुड़ों का। दोनों के पिता एक हैं, पर माताएँ अलग अलग हैं--कद्रु

और विनिता, और इन दोनों की सन्ततियों में परस्पर बड़ी शत्रुता है। यहाँ पर लंका के प्रसंग में भी, रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण के पिता एक हैं, पर रावण और कुम्भकर्ण की माता अलग है तथा विभीषण की अलग। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे यहाँ पाप और पुण्य को अनादि काल से विद्यमान दो समानान्तर सत्ताओं के रूप में नहीं देखा गया। मूल तत्त्व तो एक ही है, उसमें भेद की प्रक्रिया से अलगाव का सृजन होता है। जैसे, देवता और दैत्य के मूल में हैं कश्यप। कश्यप कौन हैं! '**कः पश्यति सः कश्यपः**--जो आत्मा का पश्यक है, वह कश्यप है। इसे यों भी कह सकते हैं कि जो आत्म-तत्त्व है, वही कश्यप है। आत्मतत्त्व तो मूलतः परम शुद्ध-बुद्ध है। फिर हम क्यों पापात्मा और पुण्यात्मा का भेद करते हैं? इसलिए कि भेद उत्पन्न करनेवाली माताएँ अलग अलग हैं। दिति ने जिनको जन्म दिया, वे दैत्य पापात्मा कहलाये और अदिति ने जिनको पैदा किया, वे देवता पुण्यात्मा माने गये। तात्पर्य यह है कि भले ही आत्मतत्त्व शुद्ध-बुद्ध-मुक्त और एक है, तथापि उपाधि-भेद के कारण व्यवहार में भिन्नता आ जाती है--चाहे ये उपाधियाँ दिति और अदिति की हों, या कद्रु और विनिता की, अथवा विभीषण तथा रावण-कुम्भकर्ण की माताओं की। मूल आत्मतत्त्व में एकत्व होते हुए भी व्यक्ति अपने व्यवहार और अभिव्यक्ति के द्वारा उसमें भेद उत्पन्न कर देता है। इस बात को 'मानस' में उत्तरकाण्ड

में बड़े सुन्दर ढंग से समझाया गया है।

प्रसंग आता है, श्री राम उपवन में विराजमान हैं। उनसे भेंट करने के लिए सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार ये चारों महात्मा वहाँ पर आते हैं। भगवान् राम उनका बड़ा स्वागत करते हैं——

देखि राम मुनि आवत हरषि दडवत कीन्ह।
स्वागत पूँछि पीत पट प्रभु बैठन कहँ दीन्ह ॥ ७/३२

——मुनियों के बैठने के लिए अपना पीताम्बर बिछा देते हैं और उनकी स्तुति करते हैं। तत्पश्चात् जब ये चारों सन्त चले जाते हैं, तो श्री भरत के अन्त:करण मे सन्त के लक्षण जानने की इच्छा होती है। तब भगवान् राम सन्त के गुणों और असन्त के दोषों का वर्णन करते हैं और अन्त में एक विलक्षण बात कह देते हैं——

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक ॥ ७/४१

——भरत, सच तो यह है कि गुण और दोष ये दो पदार्थ नहीं हैं। दोनों के बीच का यह भेद माया-कृत है। अब इस कथन का अभिप्राय क्या ? यही कि जिसे हम 'गुण' कहते है और जिसे 'दोष', वे वस्तुत: अलग अलग नहीं है। यदि होते, तो ईश्वर पर ही दोष लगता कि उसने ऐसे संसार का निर्माण क्यों किया, जिसमें गुण और दोष की अलग अलग रचना हुई। वस्तुत: ईश्वर ने जिस वस्तु का निर्माण किया है, वह मूलत: न तो गुणयुक्त है, न दोषयुक्त, वह मात्र वस्तुतत्त्व है। जब

उसका सदुपयोग होता है, तो हम 'गुण' कहते हैं और उसके दुरूपयोग को 'दुर्गुण'। गुण और अवगुण पृथक् पृथक् पदार्थ नहीं हैं। पृथकता मायाकृत है। माया का अर्थ होता है वह, जो वास्तव में न हो पर व्यवहार में दिखायी देता हो। माया अभेद में भेद की सृष्टि करती है।

अब ये जो कश्यप हैं, वे एक तत्त्व के, अद्वैत तत्त्व के प्रतीक हैं। जब वे दिति और अदिति को पत्नी के रूप में स्वीकार करते हैं, त्योंही द्वैत का प्रारम्भ हो जाता है। द्वैत के इस प्रारम्भ को हम कहेंगे विद्यामाया और अविद्यामाया। एक भेद ऐसा है, जिसके मूल में ज्ञान है और एक भेद ऐसा, जिसके मूल में अज्ञान। विद्यामाया वह है, जिसके मूल में सुविचारित ज्ञान है और अविद्यामाया वह है, जिसके मूल में केवल अविचारित दृष्टि की प्रधानता है। जैसे एक सराफ को लें। वह एक ही सोने के अलग अलग गहने बनाता है और उन गहनों के अलग अलग नाम रखता है। भले ही सराफ अलग अलग आकृतियों को देखता है, तथापि उसकी ज्ञानमूलक दृष्टि में सारे गहने मूलतः स्वर्णतत्त्व ही हैं। ग्राहक की दृष्टि स्वर्ण पर न हो गहनों के नाम-रूप पर हो सकती है, उसकी दृष्टि में सारे गहने अलग अलग हो सकते हैं और उन गहनों को लेकर, उनकी कनिष्ठता और श्रेष्ठता के लिए वह विवाद भी कर सकता है। यह ग्राहक की अज्ञानमूलक दृष्टि हुई। तो,

तत्त्व तो एक होता है, पर व्यवहार के लिए उसमें भेद की आवश्यकता होती है। अब यह भेद यदि ज्ञान-जन्य हो, तो वह गुण या देवतावृत्ति कहलाता है और जब वही अज्ञानजन्य हो, तो दोष या दैत्यवृत्ति।

इसे समझने के लिए हम यों देखें--भेद अयोध्या में भी है और लंका में भी। भगवान् राम ने चार रूपों में जन्म लिया। प्रभु चाहते, तो तीन माताओं के स्थान पर एक ही माता के गर्भ से चारों रूपों में जन्म ले सकते थे। पर उन्होंने माताओं का भेद स्वीकार किया। अयोध्या में ब्रह्म अपने को प्रकट करने के लिए तीन माताओं का मातृत्व स्वीकार करता है। लंका में भी माताओं का भेद है--रावण और कुम्भकर्ण एक माता से जन्म लेते हैं तो विभीषण दूसरी माता से। अब, लंका का भेद संघर्ष को सृष्टि करता है और अयोध्या का भेद संघर्ष की सृष्टि करता करता बच जाता है। लंका में भी विमाता को लेकर संघर्ष है और अयोध्या में भी विमाता को लेकर मन्थरा द्वारा संघर्ष की सृष्टि करने का प्रयास किया जाता है। लंका की सारी पृष्ठ-भूमि भेद पर आधारित है। वहाँ आदि से अन्त तक भेद ही भेद है। रावण यद्यपि विभीषण के प्रति प्रेम का दिखावा करता है, पर उसके मन के किसी कोने में यह संशय रूढ़ है कि विभीषण सौतेला भाई है--सगा भाई नहीं। और अयोध्या में? वहाँ पर भेद के लिए किसे चुना गया? कौसल्या या सुमित्रा को नहीं,

अपितु कैकेयी को। कौसल्या ज्ञानमयी हैं, सुमित्रा भावमयी और कैकेयी क्रियामयी। जहाँ पर विचार और भाव है, वहाँ भेद का अभाव है, पर जहाँ पर क्रिया है, वहाँ पग पग पर भेद दिखायी देता है, क्योंकि कोई भी क्रिया बिना भेद के तो होगी नहीं। इसलिए जहाँ पर क्रिया है, वहाँ सतत जागरूक रहकर यह देखना है कि वह भेदमूलक क्रिया कहीं हमारे अन्तःकरण के ज्ञान और भाव को नष्ट न कर दे। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें मन्थरा के चरित्र में यही तत्त्व दिखायी देगा। मन्थरा कैकेयी की कृपापात्र है। उसे आध्यात्मिक स्तर पर हम भेदवृत्ति कह सकते हैं और आधिभौतिक स्तर पर लोभवृत्ति। मन्थरा हमेशा कैकेयी के साथ रहती है, अर्थात् जहाँ भी क्रिया है, वहाँ भेद अवश्य होगा और वहीं लोभ भी रहेगा। लोभ की वृत्ति के रूप में इसकी व्याख्या आपके सामने पिछले वर्षों में की जा चुकी है। पर यदि हम भेदवृत्ति की दृष्टि से इस पर विचार करें, तो क्या पाएँगे? अभेद में भेद का सृजन। भगवान् राम और श्री भरत कैसे हैं? गोस्वामीजी कहते हैं--

> भरतु राम ही की अनुहारी।
> सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥ १/३१०/६

--भगवान् श्री राम और श्री भरत इतने एक-जैसे हैं कि सहसा उनको पहचानना कठिन है। और यहाँ पराकाष्ठा यह है कि दोनों विमाता से उत्पन्न होते

हैं ! अभी जो प्रसंग मैं आपके सामने रख रहा था, वह यह था कि भरतजी ने भगवान् राम से सन्त के लक्षण जानने चाहे। पर वे स्वयं प्रभु से पूछने में संकोच का अनुभव करते हैं। वे हनुमान्जी को संकेत करते हैं कि आप प्रभु से कह दीजिए। और जब हनुमान्जी प्रभु से कहते हैं--

**नाथ भरत कछु पूँछन चहहीं। ७/३५/६**

--नाथ, भरतजी आपसे कुछ पूछना चाहते हैं, तो प्रभु को हँसी आ जाती है। वे कहते हैं--

**तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ।**
**भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ। ७/३५/७**

--हनुमान्, तुम तो मेरा स्वभाव जानते ही हो। भरत के और मेरे बीच में कभी भी कोई भेद है ? अब, यह बड़े पते की बात है। वैसे तो श्री राम और श्री भरत में कोई भेद नहीं है, पर उनमें भेद की सृष्टि की जाती है। किन्तु न तो श्री राम इस भेद को स्वीकार करते हैं, न श्री भरत। जब हनुमान्जी ने प्रभु से कहा कि भरतजी आपसे कुछ पूछना चाहते हैं, तब प्रभु पहले हनुमान्जी से कहते हैं कि क्या मुझमें तथा भरत में किसी प्रकार का भेद है, और फिर वे भरतजी से पूछते हैं कि भरत, तुम्हारे हृदय में क्या संशय है, क्या मोह और भ्रम है ? इस पर भरतजी उत्तर देते हुए कहते हैं--प्रभु, मेरे हृदय में संशय ? मेरे हृदय में मोह ? नहीं, नहीं--

**नाथ न मोहि संदेह कछु सपनेहुँ सोक न मोह। ७/३६**

——जाग्रत् की तो बात क्या मेरे अन्तःकरण में सपने में भी कोई मोह-भ्रम नहीं है। अब, यह जो भाषा है, वह सामान्यतः भरतजी की अपनी नहीं, क्योंकि वे तो अपनी आलोचना ही किया करते हैं। भरतजी अपने सम्बन्ध में ऐसा कहेंगे यह सोचकर बड़ा अटपटा-सा लगता है। तब फिर भरत के इस कथन का क्या तात्पर्य है? जब प्रभु यह कह देते हैं कि मुझमें और भरत में कुछ अन्तर नही है, तो श्री भरत को ऐसा लगता है कि यदि मैं कहूं कि मेरे हृदय में शोक, मोह, सन्देह है, तो यह सब प्रभु के हृदय में भी मानना पड़ जायगा। और प्रभु, यदि मैं आपसे अभिन्न हूँ, तो जब आपके अन्तःकरण में इस सबका अभाव है, तब मेरे हृदय में यह कहाँ से आ सकता है? इसीलिए भरतजी अपने उक्त वाक्य के साथ यह जोड़ना नहीं भूलते ——

**केवल कृपा तुम्हारिहि कृपानंद संदोह। ७/३६**

——पर प्रभो, यह सब मेरे पुरुषार्थ का फल नहीं, केवल आपकी कृपा का ही फल है।

यह अभेदत्व की पराकाष्ठा है। अब भले ही श्री राम और श्री भरत में अभेद हो, पर विमाता से जन्म होने के कारण भेद ला ही दिया गया। इसका अर्थ यह है कि ऐसा कभी नहीं हो सकता, जब संसार में भेद का दर्शन न हो। अयोध्या में हम देखते हैं तो भेद में अभेद की अनुभूति होती है। किष्किन्धा में इसका संकेत मिलता है कि अभेद किस प्रकार धीरे धीरे भेद में परिणत

हो जाता है। बालि और सुग्रीव एक ही माता के गर्भ से जन्म लेते हैं। यहाँ विमाता का कोई प्रश्न नहीं। सुग्रीव भगवान् राम को अपनी कथा सुनाते हुए कहता है--

**नाथ बालि अरु मैं द्वौ भाई।**
**प्रीति रही कछु बरनि न जाई।। ४/५/१**

--मुझमें और बालि में इतना प्रेम था कि लगता था हम दोनों में कोई भेद नहीं है। पर बाद में भेद पैदा हो गया। यह भेद किसने पैदा किया?--

**मय सुत मायावी तेहि नाऊँ।**
**आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ।। ४/५/२**

--मय के लड़के मायावी ने। तो, अभेद में भेद डालने के लिए कहीं न कहीं से माया आ ही जाएगी। यदि माया नहीं आएगी, तो मायावी आएगा। इसका तात्पर्य यह है कि यदि अभेद शरीर को लेकर हो, तो वह शाश्वत न होगा। वह जीवन में कभी न कभी भेद की सृष्टि अवश्य करेगा। बालि-सुग्रीव के प्रसंग में हम यही देखते हैं। मायावी मय दानव का पुत्र है। वह बालि को चुनौती देता है। बालि उससे लड़ने निकलता है। सुग्रीव बालि से इतना प्रेम करता है कि वह भी उसके पीछे पीछे लगा रहता है--

**मैं पुनि गयउँ बंधु संग लागा। ४/५/४**

उसके बाद--

**गिरिबर गुहाँ पैठ सो जाई।**
**तब बालीं मोहि कहा बुझाई।।**

परिखेसु मोहि एक पखवारा।
नहिं आवौं तब जानेसु मारा।। ४/५/५-६

--जब मायावी एक पर्वत की गुफा में जा घुसता है, तो बालि सुग्रीव को समझाते हुए कहता है कि तुम्हें गुफा में जाने की आवश्यकता नहीं, मैं मायावी से निपट लेता हूं। बालि में कितनी उदारता है! उसे लगता है कि मैं असुर से लड़ने जा रहा हूं, यदि मैं मर जाऊं, तो कम से कम मेरा भाई तो सत्ता सम्हालने के लिए बचा रहे। वह सुग्रीव से अपनी उदारता का परिचय देते हुए कहता है--तुम गुफा के बाहर पन्द्रह दिन तक मेरी प्रतीक्षा करना, और यदि मैं न लौटूं, तो समझ लेना कि मैं मारा गया। तब तुम लौट जाना। इधर सुग्रीव के मन में आज्ञापालन की भावना है। बालि के समक्ष वह मानो यह प्रदर्शित करता है कि मैं आपके साथ ही आया था, पर जब आप मना कर रहे हैं, तो गुफा के भीतर नहीं जाऊंगा। बालि में औदार्य दिखता है, तो सुग्रीव में धर्मपालन की वृत्ति। आप यहां पर देखेंगे कि अच्छे से अच्छा सद्‌गुण भी जब शरीर से सम्बद्ध होता है, कैसे नष्ट हो जाता है; जिस धर्म के मूल में मात्र शरीर होता है, वह कैसे बिखर जाता है। सुग्रीव भगवान् राम को अपनी कथा सुनाते हुए आगे कहता है--महाराज, मैं गुफा के बाहर पन्द्रह दिन के बदले एक माह तक पड़ा रहा और तब मैंने गुफा से रक्त की धारा निकलते देखी। मैंने समझा

कि मेरा भाई मारा गया। तब 'सिला देइ तहँ चलेउँ पराई' (४/५/८)--गुफा के द्वार पर एक बड़ी शिला लगाकर भाग आया, इस डर से कि कहीं बालि को मारनेवाला मुझे भी न मार डाले। यह क्रिया सुग्रीव की भीरुता को प्रदर्शित करती है। मायावी की चुनौती सुनकर भाई के साथ चला तो आया, पर जब मृत्युभय सामने आया, तब भ्रातृत्व समाप्त हो गया! इसका अभिप्राय यह है कि संसार में चाहे जितनी भी मित्रता हो, भ्रातृत्व हो, वह तभी तक है, जब तक जीवन है। मर जाने पर भला कौन साथ देता है? जब किसी के भाई की, सम्बन्धी की मृत्यु हो जाती है, तो व्यक्ति दो काम करता है। एक तो वह 'सिला देइ' --अर्थात् मृत्यु से भागता है, सोचता है कि अब वह तो मर गया, पर हम ऐसा उपाय करें कि न मरें, अपने को बचा लें। और दूसरा, जो भोग उसके लिए था, उसे हम ले लें। सुग्रीव ने ऐसा ही किया। वह अपने को बचा लेने की वृत्ति लेकर जब नगर में लौटता है, तब--

मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं।
दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं ।। ४/५/९

--मंत्रीगण नगर को बिना राजा का देखकर उसे राजा बना देते हैं। जरा सुग्रीव का भाषण-कौशल तो देखिए। कहता है--'दीन्हेउ मोहि राज बरिआई' --मुझे जबरदस्ती राज्य दे देते हैं। मानो सुग्रीव के मन में कहीं चोर है, वह सोचता है कि राजगद्दी पर बैठ जाने से

लोग कहीं मुझे लोभी न समझ लें, इसलिए सफाई देना उचित समझता है कि मैं तो राज्य नहीं लेना चाहता था, पर क्या करूँ, मंत्रियों ने मुझसे जोर-जबरदस्ती की! यह बलात् वाली बात बहुधा प्रवचना ही होती है। अगर मन में वासना न हो, तो बलात् लेने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यही सुग्रीव की दुर्बलता है। बालि की दुर्बलता उसका अहंकार है। वह जो पन्द्रह दिन में लड़ाई जीतने का दावा करता है, वह उसकी भूल है। पुरुषार्थ की भी अपनी सीमा होती है। वह इस सीमा को अहंकार के कारण नहीं स्वीकार कर पाता, इसीलिए राक्षसों को मारकर विलम्ब से गुफा से बाहर आता है। जब गुफा के द्वार पर पहुँचा, तो उसने वहाँ बड़ी शिला देखी। तुरन्त उसके मन में आया--अच्छा, सुग्रीव ने सोचा होगा कि मेरा भाई मर जाय तो मैं लौटकर सत्ता का अकेले उपभोग करूँ! बालि के मन में उठनेवाला यह विचार सत्ता के प्रति उसके लोभ को ही प्रकट करता है। इस लोभ का परिणाम यह हुआ कि एक ओर सुग्रीव के अन्तःकरण में कायरता पैदा हुई, तो दूसरी ओर बालि के हृदय में संशय उत्पन्न हो गया। जब बालि लौटकर नगर गया, तो देखा कि उसका छोटा भाई सिंहासन पर बैठा हुआ है। तब क्या हुआ? सुग्रीव भगवान् राम से आगे कहता है--

> देखि मोहि जियँ भेद बढ़ावा॥
> रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।
> हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी॥४/५/११-१२

इस प्रकार यह जो बालि और सुग्रीव में महान् अभेद दिखायी दे रहा था, वह ऐसे भेद में परिणत हो जाता है कि बालि सुग्रीव को घर से निकाल देता है। अत: जहाँ पर भी अभेद शरीर से सम्बन्धित और उस पर आधारित रहेगा, वहाँ ऐसी ही दशा होगी।

एक बार एक सज्जन ने पूछा---जब सीताजी की खोज के लिए बन्दर चले, तो अंगद आगे आगे थे, पर जब स्वयंप्रभा की गुफा में पैठने का अवसर आया, तब 'आगें कै हनुमंतहि लीन्हा' (४/२३/८)--हनुमानजी को आगे कर लिया। ऐसा क्यों? अंगद आगे क्यो नहीं चले? तो, यह एक बड़ी मनोवैज्ञानिक बात है। गुफा में घुसने की बात को लेकर ही परिवार में इतना बड़ा संघर्ष हुआ था। अत. इस कल्पना से ही अंगद घबरा गये कि उन्हें गुफा में प्रवेश करना है। उन्हें स्मरण हो आया कि गुफा में पैठने के कारण ही अन्ततोगत्वा उनके पिता की मृत्यु हुई। अंगद के अन्त:करण में भले ही शौर्य हो, पर संस्कार कहाँ जाएँगे? इसलिए वे गुफा में घुसने का साहस नहीं कर पाते। वहाँ जाने का साहस तो हनुमान्‌जी करते हैं। तो, जहाँ पर अभेद शरीर को लेकर प्रकट होता है, वहाँ अन्त में भेद आ ही जाता है। व्यावहारिक सद्‌गुण भला कितने दिन टिकेंगे? अभेद में भेद की सृष्टि होने पर संघर्ष होता है और उसके बाद एक की मृत्यु होती है और दूसरा बच जाता है। तो, यहाँ पर हम रावण और विभीषण के भेद की चर्चा तो करेंगे ही,

साथ ही श्री राम और श्री भरत के भेद की भी चर्चा करेंगे। यह बड़ा सुन्दर भेद है, भक्त और भगवान् का भेद है, जीव और ब्रह्म का भेद है, कैकेयी और कौसल्याजी का भेद है। भले ही सुमित्राजी या कौसल्या जी या कौसल्याजी में भेद न हो, पर कैकेयीजी के साथ मन्थरा के रूप में भेद जुड़ ही गया। 'मन्थरा' नाम भी कैसा बढ़िया है? एक सज्जन कहने लगे कि राम के दोनों अक्षर यदि किसी नाम में हैं, तो वह मन्थरा के ही। अन्य कोई ऐसा पात्र नहीं है, जिसके नाम में 'रा' और 'म' ये दोनों अक्षर हों। गोस्वामीजी इस पर व्यंग्य करते हुए 'दोहावली रामायण' में कहते हैं--

> करु बिचार चलु सुपथ भल, आदि मध्य परिनाम।
> उलटि जपें 'जारा मरा', सूधें राजा राम॥

--हाँ, मन्थरा में 'रा' और 'म' तो हैं, पर जरा उलटे रूप में। वह क्रम का परिवर्तन कर देती है, 'राजा राम' को 'जारा मरा' बना देती है, रा और म के बीच क्रम को उलटकर एक व्यवधान की सृष्टि कर देती है। 'राम' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'रकारार्थो रामः' और 'मकारार्थो जीवः'--'र' का अर्थ है राम, ब्रह्म और 'म' का अर्थ है जीव। र और म के बीच जो अकार है, उसका अर्थ है सीता, भक्ति, जो जीव और ब्रह्म को मिलाती है। तो, राम का अर्थ हुआ--ब्रह्म का अनुगामी जीव। पर मन्थरा इसे उलटने की चेष्टा करती है, वह जीव को राजा बनाना चाहती है और ब्रह्म को

बहिष्कृत कर देना चाहती है। वह जोव और ब्रह्म में भेद की सृष्टि करती है। वह नगर को सजाया जाते देख पूछती है कि नगर क्यों सजाया जा रहा है? और जब उसे उत्तर मिलता है कि कल श्री राम को राज्य मिलनेवाला है, तो लम्बी लम्बो साँस लेती हुई कैकेयो जो के पास आकर समाचार दती है। आप देखेंगे कि भेदवृत्ति उदारता के भीतर बसी हुई थी। कैकेयीजी समाचार सुनकर प्रसन्न हो पूछती हैं कि क्या यह समाचार ठीक है? और जब मन्थरा कहती है कि हाँ, बिलकुल ठीक है, तो कैकेयी कह उठती हैं--

राम तिलकु जौं साँचेहु काली।
देउँ मागु मन भावत आली। २/१४/४

-- फिर तो तू जो माँगेगी, सो मिलेगा! कैकेयी के इस कथन से तो मन्थरा को निराश हो जाना चाहिए था, पर वह नहीं होती। भेदवृत्ति तो मनुष्य के अन्तःकरण में गहराई तक पैठकर अपना स्थान बनाती है। मन्थरा कैकेयी में निहित इस भेदवृत्ति को उभाड़ती है। मन्थरा पूछ देती है--देवो,आप कौसल्या के पुत्र के राज्याभिषेक के समाचार से कैसे प्रसन्न हो सकती है? "क्यों?" कैकेयीजी ने कहा, "तुझे मालूम नही?" "क्या?"

कौसल्या सम सब महतारी।
रामहि सहज सुभायँ पिआरी।।२/१४/५

--"राम तो सभी माताओं को बराबर चाहते हैं।" और कैकेयी इतना कहकर ही चुप हो जातीं, तो भेद को

बात न आती। वे आगे बढ़कर कह उठती हैं--

मो पर करहिं सनेहु बिसेषी। २/१४/६

--"राम सब माताओं को बराबर चाहते तो हैं, पर मुझे अधिक चाहते हैं।" और यह सुन मन्थरा प्रसन्न हो गयी। उसकी चाल सफल हो गयी। भेदवृत्ति 'मैं' और 'मेरा' को लेकर ही तो प्रकट होती है। मन्थरा ने देखा कि कैकेयीजी में 'मैं' तो आ गया। 'अहं' अपने में विशेषता का अनुभव कराता है। यदि राम मुझे औरों के समान ही चाहते, तो कोई विशेषता नहीं थी, पर वे तो मुझे औरों से अधिक चाहते हैं। मन्थरा ने सोचा कि जब इनमें 'मैं' आ गया, तो अब 'मेरा' आता ही होगा। हुआ भी वही। कैकेयी आगे कह उठीं।

जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू।
होहुँ राम तिय पूत पुतोहू॥ २/१४/७

--"तुम जानती हो, मन्थरा! मैं नित्य पूजा करके ब्रह्मा से यही वरदान माँगती हूँ कि यदि मेरा अगला जन्म हो, तो राम मेरे पुत्र बनें और सीता मेरी बहू।" मन्थरा ने देखा कि कैकेयी पर 'मेरा' का भी वार हो गया। कैकेयीजी को लगता है कि राम मुझे जितना चाहें, जितना आदर दें, लेकिन संसार में सब राम को कौसल्या का ही पुत्र कहेंगे, मेरा नहीं! बस, यही हमारा दुर्भाग्य है। कहाँ हमें ईश्वर से 'मैं-पन' और 'मेरा-पन' को मारने के लिए प्रेम करना चाहिए, कहाँ हम उसके द्वारा अपने 'अहं' और 'मम' की ही तृप्ति चाहते हैं! कैकेयी-

जो तो इसी जन्म में राम को अपना पुत्र मानकर धन्यता का अनुभव कर सकती थीं, पर उनकी पुत्र सम्बन्धी धारणा एकदम भौतिक है। वे राम को अपना असली पुत्र नहीं मानतीं, वे समझती हैं कि शरीर से जन्म लेनेवाला पुत्र ही असली होता है। भाव के नाते को वे नकली मानती हैं। अब, यह कोई अध्यात्मवादी दृष्टि है नहीं, पूर्णतः भौतिक दृष्टि है। जो शरीर के नाते को असली माने, वह न तो पुनर्जन्म को मानता है, न भाव और तत्त्व के नाते को; वह केवल शरीर के नाते को ही शाश्वत मानता है। कैकेयी के अन्तःकरण की यही दुर्बलता उन्हें श्री राम से दूर ले जाती है। वैसे तो श्री राम नित्य ही उन्हें 'माँ' कहकर पुकारते है, पर उससे कैकेयीजी को पूरा सन्तोष नहीं है। मन्थरा उनकी इस दुर्बलता को पकड़ लेती है। वह कहती है--एक दिन था, जब राम तुमको बहुत माना करते थे, पर अब तो तुम्हें अपने पुत्र के समेत कौसल्या की चाकरी बजानी होगी--'जौं सुत सहित करहु सेवकाई' (२/१८/८)। अब तो कौसल्या का पुत्र राजा होगा, तुम्हारा नहीं। मन्थरा के इस कथन से कैकेयी के 'मैं' और 'मेरा' पर जबरदस्त आघात लगा, वे तिलमिला उठीं। उन्होंने राजा दशरथ से दो वरदान माँगकर मानो इसी का बदला लिया। एक वरदान में 'मैं' की स्वीकृति है, तो दूसरे में 'मेरे-पन' की। ठीक है, यदि मेरे अहं पर आघात किया गया है, मुझे दासी बनाने की चेष्टा की गयी है, यदि राम ने मुझे कम चाहना

प्रारम्भ किया है, तो मैं भी उसे राजा के स्थान पर भिखारी बनाकर छोड़ूँगी ! एक वरदान के द्वारा इसी 'मैं' की वृत्ति को पुष्ट किया और दूसरे वरदान के द्वारा अपने पुत्र भरत के लिए राज्य माँग 'मेरे-पन' की वृत्ति को चरितार्थ किया। भेद के द्वारा कैसे अनर्थ की सृष्टि की गयी ! भरतजी कह उठते है--'नीच बीचु जननी मिस पारा' (२/२६०/१)--विधाता ने नीच माता के बहाने मेरे और स्वामी के बीच अन्तर डाल दिया !

पर ये तो श्री राम और श्री भरत हैं, जो भेद में भी अभेद का आनन्द लेते हैं और हम देखते हैं कि उसी में से आगे चलकर रामराज्य की स्थापना होती है। श्री राम और श्री भरत के बीच यह जो भेद की सृष्टि हुई, उससे अनर्थ तो हुआ, श्री राम वनवासी तो बने, पर अन्ततोगत्वा वह अमंगल मंगल में परिणत हुआ, क्योंकि भरत के अन्तःकरण में जो भेद है, वह भक्तियुक्त है और भगवान् राम के अन्तः-करण में भेदवृत्ति का अभाव है। कौसल्या अम्बा और सुमित्रा अम्बा की समस्या क्या है? उन दोनों के अन्तः-करण में भेद की ऐसी वृत्ति नहीं है। यदि कौसल्या अम्बा के अन्तःकरण में विद्वेष होता, तो वहाँ दुख की सृष्टि हो जाती। पर जब उन्होंने सुना कि भरत को राज्य मिलनेवाला है, तो उन्हें कोई दुःख नहीं हुआ, क्योंकि उनके लिए 'रामु भरतु दोउ सुत सम जानी' (२/५४/६) --राम और भरत दोनों पुत्र समान थे। उनमें दोनों के

प्रति अभेद-दृष्टि थी। यह विचार की दृष्टि थी। और सुमित्रा अम्बा के जीवन में भाव की प्रधानता है। भाव-दृष्टि के कारण रस और भी बढ़ जाता है। यदि उनमें भेददृष्टि होती, तो वे यही प्रयास करतीं कि जब कौसल्या का बेटा वन को जा रहा है, तो नाहक मेरा बेटा क्यों जाय? लेकिन उनके भाव म सब कुछ अटपटा है। जब लक्ष्मण भगवान् राम के मनाने पर भी अयोध्या में रहना नहीं स्वीकार करते, तब प्रभु उनसे कहते हैं--'मागहु बिदा मातु सन जाई' (२/७२/१)--"जाकर माँ से विदा माँग आओ।" तब लक्ष्मणजी आज्ञा माँगने सुमित्रा अम्बा के पास पहुचते हैं। माँ पूछती हैं--"लक्ष्मण, कैसे आये?" "प्रभु ने आदेश दिया कि तुमसे आज्ञा माँग लाऊँ।" सुमित्रा अम्बा बोली, "राम ने तुमसे क्या कहा?" "उन्होने कहा कि माँ से आज्ञा माँग लाओ।" "और तुम एक शब्द सुनते ही यहाँ पर चले आये? जानते नहीं--

तात तुम्हारि मातु बैदेही।
पिता रामु सब भाँति सनेही ॥ २/७३/२

--"तुम्हारी माता तो 'वैदेही' है।" यह विलक्षण अभेद-दर्शन है। सुमित्रा अम्बा का तात्पर्य यह है कि यदि शरीर से नाता मानोगे, तो भेदवृत्ति कभी मिटेगी नहीं। और उन्होंने 'वैदेही' शब्द का कैसा सुन्दर उपयोग किया। उन्होंने जानकी या सीता नहीं कहा। उनका अभिप्राय यह था कि "लक्ष्मण, मुझे आशा नहीं थी कि वैदेही का पुत्र देह को माता मानेगा! तुममें

इतना भेद बना हुआ है ? राम ने कहा कि माँ से आज्ञा लेते आओ और तुम मेरे पास चले आये? यदि तुम वहीं पर सीता के चरणों में प्रणाम करके, आज्ञा लेकर चले जाते, तो मैं समझती कि सचमुच तुम्हारी भावना उदात्त है।"

भले ही सुमित्रा संसार की दृष्टि मे लक्ष्मणजी की माता हैं, पर वे अपने पुत्र को सीख देती हैं कि वस्तुतः मातृत्व तो जगन्माता में, आदिशक्ति में है। वे पुत्र के समक्ष मातृत्व का सच्चा स्वरूप रखते हुए समर्पण की शिक्षा देती हैं। इस पर प्रश्न उठ सकता है कि क्या तब संसार के नाते मातृत्व नहीं मानना चाहिए ? सुमित्रा अम्बा इसका भी सार्थक उत्तर प्रदान करती हैं। जब उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि तुम्हारी माता वैदेही है, तो लक्ष्मणजी पूछ उठे--"तो तुम क्या मुझे पुत्र नहीं मानोगी ?" माता बोलीं--"क्यों नहीं ? तुम जैसा पुत्र पाकर तो मैं धन्य हो गयी--

पुत्रवती जुबती जग सोई।
रघपति भगतु जासु सुतु होई।
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी।
राम बिमुख सुत तें हित जानी ॥ २/७४/१-२

--"संसार में वही स्त्री पुत्रवती है, जिसका पुत्र रघु-नाथ का भक्त हो। नहीं तो जो राम से विमुख पुत्र से अपना हित मानती है, वह तो बाँझ ही अच्छी। पशु की भाँति उसका ब्याना व्यर्थ ही है।" इसका तात्पर्य यह है कि अभेद-भावना के उदय होने पर भी सम्बन्ध की स्वी-

कृति है, पर यह स्वीकृति शरीरमूलक न हो भावमूलक है। सुमित्रा अम्बा कहती हैं--"लक्ष्मण, मैं तुम्हारी माता नहीं पर तुम मेरे पुत्र हो!" यह कैसी बात है? यह तो विरोधाभास है। या तो वे कहें कि हमारा-तुम्हारा कोई नाता नहीं--न मैं तुम्हारी माँ, न तुम मेरे पुत्र। पर यह बात कैसी कि तुम्हारी माता वैदेही हैं और तुम मेरे पुत्र हो? मानो सुमित्रा अम्बा अपने इस कथन के द्वारा भेद और अभेद तत्त्व का समन्वय कर देती हैं। माँ का तात्पर्य यह था कि लक्ष्मण, यदि मुझे माता मानो, तब तो जब तुम वन को जाओगे, तुम्हें यही याद आती रहेगी कि मैं माँ को घर में छोड़ आया हूँ। संसार में भी देखा जाता है कि लोगों की अपनी छोड़ी हुई वस्तु पर बड़ी ममत्व-बुद्धि होती है। हमारे उधर एक प्रसिद्ध महात्मा हैं। पहले वे गृहस्थ थे, तब एम. एल. ए. (विधायक) थे। पर अब भी उनके परचे में 'भूतपूर्व एम. एल. ए.' छपा रहता है! अभिप्राय यह कि मनुष्य अपनी छोड़ी हुई वस्तु का चिन्तन करता रहता है। तो, सुमित्रा अम्बा लक्ष्मणजी से यही कहती हैं कि मुझे माँ मानने पर वन में रहोगे तो राम के साथ, पर चिन्तन मेरा करते रहोगे। इसलिए मुझे अपनी माता मत मानो। पर हाँ, मैं अवश्य तुम्हें अपना पुत्र मानूँगी। इसमें मुझे लाभ ही लाभ है। मैं रहूँगी तो यहाँ, पर जब भी तुम्हारे बारे में सोचूँगी, मुझे ईश्वर का स्मरण आएगा कि मेरा पुत्र श्री राम के चरणों में है। इस प्रकार तुम्हारे नाते मुझे सतत ईश्वर

का स्मरण बना रहेगा। सुमित्रा अम्बा का तात्पर्य यह है कि नाता वह है, जो ईश्वर से मिलाए--चाहे वह शरीर का हो या भाव का। वे कहती हैं--

पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें।
सब मानिअहिं राम के नातें ।। २/७३/७

--जगत् में जहाँ तक पूजनीय और परम प्रिय लोग हैं, वे सब रामजी के नाते से ही पूजनीय और परम प्रिय मानने योग्य हैं।

अभिप्राय यह कि अब तक शरीर को केन्द्र बनाकर नाता बनाया जाता था, पर अब श्री राम नाते का केन्द्र बन गये। जो नाता श्री राम से मिलाता है, वही नाता मानने योग्य है और जो नाता श्री राम से दूर करता है, वह भौतिक दृष्टि से नाता होते हुए भी नाता नहीं है। माँ का तात्पर्य है कि लक्ष्मण, तुम्हारा मुझसे नाता तुम्हें शरीर से राम के पास रखकर भी मन से राम से दूर ले जायगा, पर मेरा तुमसे नाता मुझे राम के पास ले जायगा। और माँ यही नाता स्वीकार कर वर्तन भी करती हैं। गोस्वामीजी संकेत देते हैं कि जब प्रभु लंका से लौट आये और लक्ष्मणजी ने सुमित्रा अम्बा के चरणों में प्रणाम किया, तो उन्होंने लक्ष्मण को आशीर्वाद न दे कसकर अपने हृदय से लगा लिया। लोगों को लगा कि पुत्र चौदह वर्ष बाद वन से लौटा है इसलिए माँ का वात्सल्य उमड़ आया है और वे पुत्र को नहीं छोड़ रही हैं, पर गोस्वामीजी की भावपूर्ण पैनी दृष्टि ने देखा कि सत्य तो

दूसरा है। वस्तुतः सुमित्रा अम्बा ने जिस समय लक्ष्मण-जी को अपने हृदय से लगाया, तब वे एक दिव्य भाव में डूब गयीं। उन्होंने श्री राम को सदा ईश्वर के रूप में देखा, पर संसार के नाट्यमंच पर तो वे माता हैं और राम उनके पुत्र, अत: नाट्यमंच पर अनुकूल और उचित व्यवहार ही करना होगा, वे चाहें तब भी श्री राम के चरण नहीं छू सकतीं, श्री राम ही उनके चरणों का स्पर्श करेंगे। तब माँ श्री राम के चरणों को छूने के लिए क्या करें ? वे भावराज्य में एक उपाय निकाल ही लेती हैं। वे सोचती हैं कि लक्ष्मण तो निरन्तर राम के चरणों को अपने हृदय पर रखकर सोता है--'पौढे धरि उर पद जल-जाता' (१/२२५/८)। तो अगर लक्ष्मण को हृदय से लगाऊगी, तो राम के चरणों के स्पर्श का सुख मुझे भी मिल जायगा! और गोस्वामीजी लिखते भी यही हैं--'भेंटेउ तनय सुमित्राँ राम चरन रति जानि' (७/६ क)। यह सुमित्रा अम्बा का विलक्षण दर्शन है, जिसमें भेद दिखायी तो दे रहा है, शरीर और नाता दीख तो रहा है, पर यह नाता राम की याद दिला रहा है, ईश्वर के पास ले जा रहा है। इस प्रकार अयोध्याकाण्ड के प्रसंग में गोस्वामी-जी कौसल्या अम्बा के अभेद का, सुमित्रा अम्बा के भेद में अभेद और भेद के अद्भुत रस का तथा कैकेयीजी के जीवन में भेद के द्वारा उत्पन्न होनेवाली समस्या का बड़ा सूक्ष्म चित्रण करते हैं।

अब हम लंका में भेद की जो समस्या थी, उस पर

विचार करें। हम कह चुके हैं कि रावण भले ही विभीषण को अपने सगे भाई की तरह मानने का दिखावा करता है, पर उसके अन्तःकरण के किसी कोने में यह संस्कार है ही कि विभीषण सौतेला भाई है। और यही संस्कार आगे चलकर दोनों में भेद की सृष्टि करता है, जैसा कि हम देखेंगे। हम कह चुके हैं कि रावण और कुम्भकर्ण पूर्वजन्म में प्रतापभानु और अरिमर्दन थे। प्रतापभानु का मन्त्री धर्मरुचि अपने राजा के प्रति हित-बुद्धि के कारण विभीषण के रूप में जन्म लेता है। यहाँ व्यंग्य यह है कि विभीषण पूर्वजन्म में जिसके मन्त्री थे, इस जीवन में उसी के छोटे सौतेले भाई बनकर जन्म लेते हैं—'भयउ बिमात्र बंधु लघु तासू' (१/१७५/४)। जो हित चाहे, वह छोटा और जिसका हित चाहा जाय, वह बड़ा! हित चाहनेवाला धर्मरुचि, पुण्यात्मा, धर्म-कर्म करनेवाला, और जिसका हित चाहा जाय वह रावण और कुम्भकर्ण अर्थात् मोह और अहंकार! अब यदि हमारी धर्मरुचि, हमारी साधना मोह और अहंकार के छोटे भाई के रूप में उनके पीछे पीछे चले, तो धर्म का क्या हस्र होगा समझा ही जा सकता है! जब तक हमारी धर्मरुचि मोह और अहंकार से अलग नहीं होगी, तब तक हम चाहे जितना भी धर्म-कर्म करें, हमें जीवन में शाश्वत शान्ति की उपलब्धि नहीं होगी। हम लोग बहुधा कहा करते हैं कि ये बेचारे बड़े धर्मात्मा होकर भी कष्ट पा रहे हैं। पर हमें देखना यह है कि क्या वे सच-

मुच धर्मात्मा हैं? जो सचमुच का धर्मात्मा है, वह कष्ट क्यों पाएगा ? हम जिन्हें धर्मात्मा कहते हैं, वे बहुधा विभीषण के समान मोह और अहंकार के पीछे पीछे चलनेवाले होते हैं, मोह और अहंकार को अपना बड़ा भाई माननेवाले होते हैं। पहले दिन की कथा में मैंने कहा था कि जब हनुमान्‌जी विभीषण से मिलते हैं, तो उन्हें 'भाई' कहकर पुकारते हैं--

> तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता।
> देखी चहउँ जानकी माता ॥ ५/७/४

हनुमान्‌जी का तात्पर्य है कि विभीषणजी, आपको मेरा भाई होना चाहिए अथवा रावण-कुम्भकर्ण का ? हनुमान्‌जी मूर्तिमान् वैराग्य हैं --'प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन-तनय' (विनयपत्रिका, ५८/८)। अतः धर्म का भाई वैराग्य हो अथवा मोह और अहंकार ? तो, जब तक वैराग्य धर्म का भाई नहीं बनेगा, जब तक हनुमान् और विभीषण की जोड़ी नहीं बनेगी, तब तक शरणागति पूर्ण नहीं होगी। जब तक हमारा धर्म मोह और अहंकार की तरफदारी करता रहेगा, उनकी वृद्धि के लिए प्रयास करता रहेगा, तब तक हमारे सारे धार्मिक क्रियाकलाप वांछित फल देने में असफल ही रहेंगे। इसीलिए अन्त में विभीषण को रावण और कुम्भकर्ण का साथ छोड़कर हनुमान्‌जी को अपना भाई बनाना पड़ा।

पर 'महाभारत' में क्या होता है ? आपने कभी दुर्योधन के सेनापतियों के नाम पर ध्यान दिया ? उसके प्रथम सेनापति थे भीष्म। जब वे थके, तो द्रोणाचार्य।

द्रोणाचार्य के बाद कर्ण और कर्ण के पश्चात् शल्य। ये चारों जो एक के बाद एक दुर्योधन के सेनापति बने, कितने महान् व्यक्ति थे! बालब्रह्मचारी भीष्म, महान् तपस्वी शस्त्रविद् द्रोणाचार्य, महान् दानी कर्ण और महान् पुण्याभिमानी शल्य। तो ब्रह्मचर्य, तप, दान और पुण्याभिमान——ये चार सेनापति हैं दुर्योधन के। और वे चारों मारे गये! ऐसा क्यों? इसलिए कि उन्होंने दल-परिवर्तन नहीं किया। वैसे तो सामान्यतया दल-परिवर्तन राजनीतिक क्षेत्र में उपहास की दृष्टि से देखा जाता है, जब वह स्वार्थ के लिए होता है। पर यदि किसी का अन्तःकरण उचित और अनुचित का विचार कर अनुचित के दल को छोड़कर उचित के दल में चला जाय, तो ऐसा दल-परिवर्तन एक गुण ही होता है। अब, दुर्योधन के उक्त चारों सेनापतियों को विचार करना था कि हम किसका साथ दे रहे हैं? दुर्योधन अधर्म का प्रतीक है और उसके ब्रह्मचर्य, तप, दान और पुण्याभिमान ये चार सेनापति उस अधर्म को जिताने के लिए लड़ाई लड़ रहे हैं! अब यह सोचने की बात है कि ब्रह्मचर्य, तप, दान और पुण्याभिमान का संरक्षण प्राप्त करने से अधर्म अमर हो जायगा अथवा अधर्म का साथ देने के कारण ब्रह्मचर्य, तप, दान और पुण्याभिमान मारे जाएँगे? दुर्योधन पहले वाले तर्क को मानता था, वह सोचता था कि धर्म का संरक्षण पाकर वह अमर हो जायगा। यही तर्क रावण के जीवन में भी दिखायी देता है। रावण,

कुम्भकर्ण और विभीषण तपस्या कर रहे हैं। जब उन्हें वरदान देने के लिए ब्रह्मा और शंकर आते हैं, तो रावण माँगता है--'हम काहू के मरहिं न मारें' (१/१७६/४)। जो यह वरदान माँगे कि हम किसी के मारने से न मरें, वह स्पष्टत: शरीर को ही 'हम' मानता है। ऐसा व्यक्ति भले ही घोर तपस्या करता हो, पर वह शुद्ध आयुर्वादी है, धर्मात्मा या अध्यात्मवादी नहीं। दुर्योधन का गणित भी ऐसा ही था। भीष्म को वरदान था कि वे जब चाहेंगे, तभी मरेंगे। इसलिए दुर्योधन ने सोचा कि हमारा सेनापति कैसा बढ़िया , जो इच्छामृत्यु है. जो किसी के मारने से नहीं मरेगा। और द्रोणाचार्य कैसे हैं? वे मृत्यु को तब प्राप्त होंगे, जब शस्त्र का त्याग कर देंगे। शस्त्र का त्याग भी तभी करेंगे, जब उनके पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु होगी। और अश्वत्थामा तो कभी मरेंगे नहीं क्योंकि वे अमर हैं, इसलिए द्रोणाचार्य भी अमर रहेंगे। कर्ण तो अमर हैं ही, क्योंकि कवच-कुण्डल के साथ उनका जन्म हुआ है, और जब तक उनके कवच-कुण्डल सुरक्षित हैं, उन्हें कोई नहीं मार सकता। अब रहे शल्य। शल्य को श्रीकृष्ण की बराबरी का ही सारथि माना गया। तो, जैसे श्रीकृष्ण अमर हैं, उसी प्रकार उन्हीं के समान कुशल सारथि होने के कारण शल्य को भी दुर्योधन ने अमर मान लिया। संजय राजा धृतराष्ट्र से 'महाभारत' के शल्यपर्व में कहते हैं--

> आशा बलवती राजन् पुत्राणां तेऽभवत्तदा।
> शल्य: पार्थान् रणे सर्वान् निहनिष्यति मारिष॥ ८/१७

——राजन्, आपके पुत्रों के मन में यह प्रबल आशा हो गयी कि शल्य रणभूमि में सम्पूर्ण कुन्तीकुमारों का वध कर डालेंगे। पर अन्ततोगत्वा दुर्योधन का सारा गणित धरा रह गया। जिन चारों सेनापतियों को उसने अमर माना था, वे सब के सब मारे गये। इस पर प्रश्न उठता है कि धर्म अमर है या मर्त्य ? इसका उत्तर यह है कि धर्म तो अमर ही है, पर जो धर्म अधर्म को अमर बनाने के लिए सचेष्ट हो, वह धर्म है क्या, यही प्रश्न है। थोड़ा और अन्तरंग में पैठिए, तो एक अनोखी बात मिलेगी। एक ओर कुन्ती हैं, तो दूसरी ओर गान्धारी। पाण्डव कुन्ती के पुत्र हैं और कौरव गान्धारी के। अब दोनों के चरित्र की जरा तुलना तो कीजिए। यदि हम श्रद्धातत्त्व को अलग कर दें, तो गान्धारी की अपेक्षा कुन्ती का चरित्र बड़ा हीन जान पड़ेगा, क्योंकि कुन्ती जब कुमारी हैं, तभी सूर्य के आवाहन-मन्त्र द्वारा उनसे कर्ण का जन्म होता है। फिर बाद में भी पाण्डवों की उत्पत्ति पाण्डु के द्वारा न हो देवताओं के आवाहन से होती है। गोस्वामीजी पाण्डवों का वर्णन करते हुए 'विनय-पत्रिका' में कहते हैं——'**उतपति पांड-सुतन की करनी सुनि सतपथ डरचो**' (२३९/२)——पाण्डु के पुत्रों की गाथा सुनकर बेचारे धर्मात्मा घबरा जाते हैं, कान पर हाथ रखते हैं कि इसे किस दृष्टि से देखें? तो, पाण्डवपक्ष को देखने पर धर्म-वृत्ति का ऐसा कोई परिचय नहीं प्राप्त होता कि जिससे श्रद्धा उत्पन्न हो। और जब हम दूसरे पक्ष को, कौरवपक्ष

को देखते हैं, तो पाते हैं कि भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य सभी मारे जाते हैं। अन्त में जब अकेला दुर्योधन बच रहता है, तो गान्धारी उससे कहती हैं--पुत्र, सब तो मारे गये, पर मैं तुम्हें नहीं मरने दूंगी ! यही मोह है !--'अहो मोह महिमा बलवाना' (६/१५/१)। मोह कितना बलवान् है ! कोई भी असुर ऐसा नहीं था, जो मरने से बचा हो, पर हम असुरों के इतिहास में यही पाते हैं कि जो भी असुर पैदा हुआ, उसने 'हम न मरें' का ही वरदान माँगा। रावण भी यही चाहता है। वह सोचता है कि भले ही अन्य लोगों की मृत्यु हुई, पर हम अपने लिए विधान में ऐसा परिवर्तन करा लेंगे कि हम न मरें ! सती गान्धारी भी इस मोह के आक्रमण से नहीं बचीं। उनको विश्वास हो गया कि वे अपने पातिव्रत्य के बल पर दुर्योधन को मरने से बचा लेंगी। अपने पातिव्रत्य का अहंकार और मर्त्य को अमर बनाने का मोह गान्धारी की महिमा को कलंकित करता है। यह मोह और अहंकार ही गोस्वामीजी की भाषा में क्रमशः रावण और कुम्भकर्ण है--'मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहँकार' (विनयपत्रिका, ५८/४)। मोह का अर्थ होता है जानकर भी न जानना। और कुम्भकर्ण का मतलब तो आप जानते ही होंगे--जिसके कान घड़े की तरह हों। अहंकारियों के कान घड़े की तरह होते हैं, उनकी सबसे अधिक आसक्ति कान पर होती है। प्रशंसा सुनने के लिए कान का घड़ा खुला ही रहता है। अहंकारी अपने

कान और नाक के सम्बन्ध में बड़ा सावधान रहता है--कान से निरन्तर प्रशंसा सुनते रहें और नाक कटने न पाए!

अब, कान तो गणेशजी के भी बड़े हैं, पर वे सूप की तरह हैं, जबकि कुम्भकर्ण के कान घड़े की तरह हैं। आप सूप और घड़े का अन्तर तो जानते ही हैं। सूप असार को छोड़ देता है और सार को रख लेता है। पर घड़ा? उसमें आप जो चाहें डाल दें, ले लेता है। गंगाजल डालें तो वह ले ले, शराब डालें तो वह भी ले ले। कुम्भकर्ण ऐसा ही है। 'रामचरितमानस' में प्रसंग आता है कि कुम्भकर्ण सो रहा है। रावण आकर जगा देता है। तब कुम्भकर्ण उससे पूछता है--

कुंभकरन बूझा कहु भाई।
काहे तव मुख रहे सुखाई॥ ६/६१/८

--अरे भाई, तुम्हारा मुंह क्यों सूखा हुआ है? रावण तुरन्त कहता है--'आधा कटकु कपिन्ह संघारा' (६/४७/४)--आधी सेना मारी गयी। अब इसके गूढ़ार्थ पर विचार कीजिए। कुम्भकर्ण के जागने से पहले ही रावण की आधी सेना मारी जा चुकी है और तब वह कुम्भकर्ण को जगाता है। यह जीवन का आध्यात्मिक सत्य है। पुण्य ने आधे पाप को मार डाला। तब किसका आश्रय लिया गया? कुम्भकर्ण का। इसका तात्पर्य यह है कि पुण्य के द्वारा आप पाप को तो मिटा देंगे, पर जब पुण्य करने का अहंकार आपके जीवन में आएगा, तब क्या करेंगे? क्योंकि बिना अहं के पुण्य हो नहीं होगा। रावण कुम्भकर्ण को

क्या जगाता है, वह मानो अहंकार को ही जगाता है। कुम्भकर्ण हंसकर कहता है कि तुम्हें देखकर तो दूसरों का मुंह सूख जाता था, आज तुम्हारा मुंह सूखा हुआ है, क्या बात है ? तब रावण सीताजी के अपहरण की बात बताता है। सुनकर कुम्भकर्ण रावण को डाँटते हुए कहता है--

जगदंबा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान। ६/६२

--अरे मूर्ख ! जगज्जननी को हर लाकर अब तू कल्याण चाहता है ? रावण डांट सुनकर कुम्भकर्ण का मुंह ताकने लगा। सोचने लगा, शराब पीकर सोनेवाला इतनी ऊँची बातें कह रहा है ! पर वह तो कुम्भकर्ण ही था, शराब के साथ घड़े में एक बूंद गंगाजल भी पड़ गया था। उसने कहा, एक दिन जब मैं सोकर उठा, तो नारद मुनि ने मुझे कुछ ज्ञान सिखाया था-- 'नारद मुनि मोहि ग्यान जो कहा' (६/६२/६)--वही समय रहने पर तुझे भी सुनाता। रावण हंसा। बोला, अच्छा तुम्हारे घड़े में गंगाजल भी गया है, अब लाओ, उसे दूसरी चीजों से भर दें। और--

रावन मागेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक। ६/६३

महिष खाइ करि मदिरा पाना।
गर्जा बज्राघात समाना॥ ६/६/३१

--रावण शराब और भैंसे के मांस से कुम्भकर्ण का घड़ा भर देता है। कुम्भकर्ण भैंसा खाकर, शराब पीकर श्री राम से लड़ने के लिए चल पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि धर्म हमारे भीतर बहुधा मोह और अहंकार से ही सम्बद्ध रहता है। या तो हम धर्म द्वारा रावण के समान अमर बनना चाहते हैं, या फिर

कुम्भकर्ण के समान प्रशंसा सुनकर अपने अहं की तृप्ति करना चाहते हैं। गान्धारी भी अपने धर्म के द्वारा वही करना चाहती हैं, जो संसार में कभी नहीं हुआ। वे दुर्योधन से कहती हैं --बेटा, तू नग्न होकर मेरे सामने आ जाना, मै अपनी आँखों की पट्टी खोलकर तुझे अमर बना दूंगी ! दुर्योधन तो आनन्द में डूब गया। पर जब यह समाचार पाण्डवों के खेमे में पहुँचा, तो वहाँ मायूसी छा गयी। सोचने लगे कि जब गान्धारी-जैसी पतिव्रता ने ऐसा व्रत ले लिया है, तब क्या होगा ? पर श्रीकृष्ण मुसकराकर बोले--अगर दुर्योधन नग्न होना जानता होता और गान्धारी आँखों की पट्टी खोलना जानती होतीं, तो यह अनर्थ ही क्यों होता ? दुर्योधन नग्न होना कहाँ से जाने, वह तो दूसरों को नंगा करना जानता है। उसने द्रौपदी को नग्न करने की चेष्टा की, इसी से महाभारत की लड़ाई हुई। स्वयं नग्न होने का तात्पर्य है अपने दोष देखना और उसे स्वच्छ करने की चेष्टा करना तथा दूसरे को नंगा करने का अर्थ है दूसरे का दोष देखना, दूसरे को नीचा दिखाने की चेष्टा करना। दुर्योधन में आत्मदोष-दर्शन की प्रवृत्ति ही नहीं है, वह तो केवल परदोष-दर्शन ही करता है। अतः वह नंगा कैसे हो सकेगा? उधर गान्धारी पतिव्रता तो हैं, पर उन्हें आँखों की पट्टी खोलना कहाँ आता है? यह सही है कि उनकी आँखों में ऐसी शक्ति है कि चाहे तो वे किसी को भस्म कर दें और चाहे तो किसी के शरीर को वज्र बना

दें। पर वे आँखों को खोलना जानें तब न? यदि जानती होतीं, तो जिस समय भरी सभा में दुर्योधन द्रौपदी को नग्न करवा रहा था, वे धमकी दे सकती थीं कि दुर्योधन, यदि तुम ऐसा अन्याय करोगे, तो मैं आँखों की पट्टी खोल तुम्हें भस्म कर दूँगी। उससे सारा पाप ही समाप्त हो जाता। पर यह कैसी विडम्बना है कि गान्धारी पाप को मिटाने के लिए नहीं, पाप को अमर बनाने के लिए आँखों की पट्टी खोलने का व्रत लेती हैं! अपने पातिव्रत्य के बल पर उसे अमर बनाने पर तुली हुई हैं, जो दूसरों के पातिव्रत्य को नष्ट करने पर तुला रहता है!! पर क्या वे अपनी इच्छा में सफल हो पायीं? धर्म के साक्षात् घनीभूत रूप श्रीकृष्ण के रहते क्या अधर्म अमर बन सकता था? विजय तो धर्म की ही होनी थी। 'महाभारत' घोषणा करता है-- 'यतो धर्मस्ततो जयः'। दुर्योधन भी सोचता था कि जीत उसकी होगी, क्योंकि ब्रह्मचर्य, तप, दान, पुण्य और पातिव्रत्यरूप धर्म उसी की तरफ है। पर 'महाभारत' में एक वाक्य और कह दिया गया--'यतः कृष्णस्ततो धर्मः' -- जिधर कृष्ण है, उधर धर्म है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिधर कृष्ण, उधर धर्म और जिधर धर्म, उधर विजय। पर विजय तो कौरवपक्ष की ओर दिखायी पड़ रही है--दुर्योधन नग्न होकर अपनी माता गान्धारी के पास अमर बनने के लिए जा रहा है। पर क्या गान्धारी दुर्योधन को अमर बना पायीं? हम पढ़ते हैं

कि श्रीकृष्ण की प्रेरणा से नारद दुर्योधन के सामने आ जाते हैं, जब वह सारे खिड़की-दरवाजों को बन्द कर नंगा अपनी माँ के पास सावधानी से जा रहा है कि कहीं कोई उसे देख न ले। जब वह नारद को सामने देखता है, तो लजाकर बैठ जाता है। अब, सन्त के सामने कहाँ उसे अपने दोष प्रकट करना चाहिए था और कहाँ लजाकर छिपने की चेष्टा करता है। नारद मुसकरा पड़े। बोले--भलेमानुस, जब मेरे सामने इतना संकोच कर रहे हो, तब माँ के सामने क्या होगा ? कुछ तो कपड़ा पहन लो, थोड़ा अपने अंगों को ढक तो लो। क्या बढ़िया सलाह है, यह एक व्यावहारिक सलाह है--कुछ ढक लेना और कुछ प्रकट करना। कुछ लोग होते हैं, जो जब दूसरों के दोष बताते हैं, तब कुछ प्रकट कर देते हैं और कुछ गुप्त रख लेते हैं। प्रकट यह कहाने के लिए करते हैं कि ये कुछ छिपाते नहीं और छिपाते इसलिए हैं, जिससे पूरी बात न मालूम हो ! नारद की ऐसी सलाह दुर्योधन के स्वभाव के अनुकूल ही थी। और दुर्योधन ही क्यों, यह हम सबकी प्रवृत्ति के अनुकूल बात है। तो, जब दुर्योधन कमर में कपड़ा लपेटकर माँ के पास पहुँचा, माँ ने आँखों की पट्टी खोलकर उसकी ओर देख लिया। दुर्योधन का सारा शरीर वज्र का हो गया, केवल कमर ही जिस पर कपड़ा लिपटा था, दुर्बल रह गयी। श्रीकृष्ण ने मुसकराकर कहा--देखो, पतिव्रता ने अधर्म को अमर बनाना चाहा, पर अधर्म तो अमर हुआ

नहीं, बल्कि पतिव्रता ने अधर्म के मरने का उपाय जरूर बता दिया। पहले तो सोचना पड़ता कि दुर्योधन को मारने के लिए उस पर कहाँ पर वार किया जाय, पर अब तो पता चल गया कि कमर पर ही वार करना होगा।

तो, हमारा ब्रह्मचर्य, हमारा तप, हमारा दान और हमारा पुण्य यदि केवल मोह और अहंकार की सृष्टि के लिए हो, तो वह धर्म नहीं, अधर्म है और ऐसे अधर्म का शीघ्र नष्ट होना ही उचित है। रामायण में भी हम यही बात देखते हैं। विभीषण की तपस्या, उनकी साधना रावण को ही बल प्रदान करती थी। जब तक उन्होंने रावण और कुम्भकर्ण से नाता तोड़कर हनुमान्‌जी के साथ नहीं जोड़ लिया, तब तक उनका धर्म अधर्म को ही पुष्ट करता था। धर्म की कसौटी यह है कि जीवन में वैराग्य आना चाहिए—— 'धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना' (३/१५/१)। धर्म से जब वैराग्य आए, तो समझ लीजिए हनुमान्‌जी आ गये। और यदि धर्म करते करते मोह और अहंकार आए, तब समझ लेना चाहिए कि वह धर्म नहीं, घोर अधर्म है।

तो, जब तक विभीषणजी का जीवन रावण और कुम्भकर्ण से जुड़ा हुआ था, उनका कल्याण नहीं हुआ। पर जब वे हनुमान्‌जी से जुड़े, उनके जीवन में यथार्थ शरणागति आयी और वे प्रभु से मिलने की ओर उन्मुख हुए। प्रभु से उनका मिलन किस प्रक्रिया से हुआ इसकी चर्चा अगले प्रवचनों में करेंगे।

# मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

## (१) वचनहुँ यह जगत् यों

महाराष्ट्र के सन्तद्वय तुकाराम और सन्ताजी सम-कालीन थे। इन दोनों में हमेशा सत्संग होता रहता। एक बार चर्चा के दौरान उन्होंने तय किया कि जिसकी भी मृत्यु पहले होगी, दूसरा उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया के समय उपस्थित रहेगा और मृत देह को मिट्टी अर्पित करेगा।

दैव का विधान कि सन्त तुकाराम का निर्वाण पहले हुआ और उन्हें लेने के लिए वैकुण्ठ से विमान आ गया। इस अवसर पर भक्तसमुदाय एकत्र हुआ, जिसमें सन्ताजी भी थे, किन्तु तुकाराम विमान में बैठे और वह देखते देखते आँखों से ओझल हो गया।

इस घटना के कुछ वर्ष बाद सन्ताजी का स्वर्गवास हुआ। तब उनकी अन्त्येष्टि के लिए तेलीसमुदाय और वारकरी पन्थ के लोग एकत्र हुए। मृतक सन्ताजी का मुख बन्द था। तेली समाज की विधि के अनुसार जब उनके मुख में उनके पुत्र द्वारा ग्रास भर मिट्टी डाली जाने लगी, तो लोग यह देख हैरान हो गये कि मुख खुल ही नहीं रहा है। काफी प्रयास करने के बाद भी मुख न खुला, तो उनके सगे-सम्बन्धी शोक करनें लगे कि क्रिया-कर्म में कोई खोट तो नहीं आ गयी है, अथवा सन्ताजी की कोई इच्छा अतृप्त तो नहीं रह गयी है।

अकस्मात् लोगों को एकत्र समुदाय मे सन्त तुकाराम दिखायी दिये। वे शव के पास आये और उन्होंने सन्ताजी का मुख खोलकर तीन मुट्ठी मिट्टी डाली। इसी समय उन्होंने सन्ताजी के पुत्र को तेरह अभंग दिये, जिनमें से एक की निम्न तीन पंक्तियों में उपर्युक्त घटना का उल्लेख है—

आम्हां येणे झालें। एका तेलिया कारणें।
तीन मुष्टि मृतिका देख। तेव्हां लोपविले मुख।
आलो म्हणें तुका। संत न्यावया विष्णु लोका।

## (२) राम सरिस कोउ नाहीं

एक बार गोस्वामी तुलसीदास सन्त नाभादास से सत्संग करने वृन्दावन गये। तब उन्हें यह देख दुःख हुआ कि यत्रतत्र कृष्ण का ही भजन-पूजन हो रहा है और उनके आराध्य देव रामचन्द्रजी का नाम कहीं सुनायी ही नहीं दे रहा है। तब उनके मुख से ये शब्द फूट पड़े—

राधा-कृष्ण सबै कहैं, आक ढाक अरु कैर।
तुलसी या ब्रज भूमि में कहा, सियाराम सों बैर॥

उनके मन-मन्दिर में तो प्रभु रामचन्द्र की ही मनमोहक मूर्ति विराजमान थी, अतः वे जब गोपाल मन्दिर पहुँचे और वहाँ भी जब उन्हें करुणानिधान राम की मूर्ति न दिखायी दी, तो उन्होंने संकल्प किया कि जब तक राघवेन्द्र की मूर्ति दिखायी नहीं देगी, वे अपना माथा नहीं नवाएँगे और आंख बन्द कर उन्होंने निम्न दोहा कहा—

कहाँ कहौं छबि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवैं, धनुष-बाण लो हाथ॥

और दीनदयालु श्रीकृष्ण को उनके संकल्प के आगे झुकना पड़ा। उन्होंने ज्योंही आँखें खोलीं, सामने रघुकुलतिलक श्रीराम की प्रतिमा दिखायी दी और तब उन्होंने दण्डवत् प्रणाम किया।

महाराष्ट्रकवि मोरोपन्त (मयूरकवि) ने 'केकावलि' में उपर्युक्त घटना का इस प्रकार वर्णन किया है--

श्रीकृष्णमूर्ति जेणें केलो, श्रीराममूर्ति सज्जन हो।
रामसुत मयूर म्हणें त्याचा सुयशामृतांत मज्जन हो॥

## (३) मान-अपमान न चित धरै

एक बार जब वर्षा न हुई, तो किसान चिन्तित हो गये। तभी किसी व्यक्ति ने बताया कि समीपस्थ खडूर-खहरयाँ ग्राम में तपा नामक एक योगी रहता है, जो बारिश ला सकता है। तब कुछ लोग उसके पास गये और उन्होंने उससे योगविद्या से बारिश कराने की विनती की।

उसी ग्राम में सिख गुरु अंगददेव का भी डेरा था। तपा उनसे बेहद ईर्ष्या करता था। उसने गुरु को तंग करने का अच्छा मौका जान कहा, "तुम्हारे गाँव में अंगद नाम का कोई दाढ़ीधारी साधु आया है। वह जब तक गाँव में रहेगा, वर्षा न होगी।" लोगों को अंगददेव के प्रति अपार श्रद्धा थी, तथापि योगी की बात को सत्य मान उन्होंने अंगददेव से सारी बात कहकर नम्रतापूर्वक

डेरा हटाने की प्रार्थना की। गुरुदेव ने कहा कि यदि उनके जाने से बारिश होती है, तो जाने में हर्ज ही क्या और वे चुपचाप दूसरे गाँव चले गये।

किन्तु उनके जाने के बाद भी जब वर्षा न हुई, तो लोगों को गुस्सा आया और वे तपा को तंग करने लगे कि बारिश क्यों नहीं हो रही है। उसने मन्त्र-तन्त्र का काफी सहारा लिया, किन्तु फिर भी बारिश न हुई. तब लोगों ने उसे बुरा-भला कहा और वापस चले आये।

गुरु अमरदासजी इस बात से अनभिज्ञ थे। वे जब अंगददेव से मिलने गाँव में आये, तो लोगों ने सारी हकीकत बतायी। यह सुन अमरदासजी को क्रोध आया और उन्होंने लोगों से कहा कि योगी को उस स्थान से हटाओ और जहाँ जहाँ बारिश चाहते हो, उसे ले जाओ, बारिश होगी। और लोगों को यह देख प्रसन्नता की सीमा न रही कि वे जिस जिस खेत में तपा को खींचकर ले गये, वहाँ अच्छी तरह बारिश हुई।

बात जब अंगददेव को पता चली, तो उन्हें दुःख हुआ और उन्होंने अमरदासजी से कहा, "यदि कोई बुराई करता है, तो हमें नजरअन्दाज कर देना चाहिए। करामात और करतब दिखाकर भीड़ जमा करना भी अच्छा नहीं है। चमत्कारों और आडम्बरों से तो हमें कोसों दूर रहना चाहिए। महात्मा लोग तो मालिक की रजा में ही राजी होते हैं, इसलिए हमें मान-अपमान की परवाह न कर सबके साथ सद्व्यवहार करना चाहिए।"

### (४) एक परमात्मा, एक तू

एक बार मसजिद में नमाज अदा करने के बाद मुहम्मद साहिब ने इमामों और उपस्थित लोगों से पूछा, "आपके पास क्या क्या है?" हजरत उमर ने जवाब दिया, "मेरी बीबी है और बेटे-बेटियाँ हैं, ऊँट हैं, और भी काफी सामान-असबाब है।" इसी प्रकार दूसरों ने भी अपनी अपनी मिल्कीयत की चीजें गिना दीं। जब हजरतअली की बारी आयी, तो वे बोले, "मेरा अपना कहने लायक तो केवल एक खुदा है और एक तू है। इनके अलावा और कोई नहीं, जिन्हें मैं 'अपना' कह सकूँ।" यह सुन मुहम्मद साहिब बोले, "अली की बात बिलकुल सही है। दुनिया में ऐसी कोई भी चीज नहीं, जिसे हम 'अपना' कह सकें, क्योंकि बुरे दिन आने पर 'अपना' कहलानेवाले सभी लोग साये की तरह भाग जाते हैं। दुनियादारी में जो ज्यादा देर फँसा रहता है, वह खुदा से बहुत दूर चला जाता है, और जो केवल खुदा पर भरोसा करता है और उसी से प्यार करता है, खुदा उसे हरदम अपने पास रखता है।"

### (५) बिसारिये न हरि नाम

एक बार सन्त सूफियान की महात्मा फजल से मुलाकात हुई और वे दोनों रात भर आपस में बातें करते रहे। दूसरे दिन जब सूफियान वापस जाने लगे, तो उन्होंने महात्मा फजल से कहा, "आपसे अब पता नहीं कब मुलाकात हो। वैसे कल की रात बड़ी अच्छी रही।"

"कल की रात अच्छी नहीं, बुरी रही," फजल बोले, "आपनें कुछ गलत समझ लिया।"

"क्या कह रहे हैं, आप ? कल की रात बुरी रही ?" सूफियान ने आश्चर्य से कहा।

"हाँ, मैं सही कह रहा हूँ," फजल ने कहा, "दरअसल आप सवाल करके अपने दिल की शुबहा को मिटा रहे थे और मैं इस कोशिश में लगा रहा कि आपके सवालों का अच्छा से अच्छा जवाब दूँ। फल यह हुआ कि खुदा की आपको जरा भी याद नहीं रही और मैं भी उसे भूल गया। रात हमारी अच्छी तब कटती, जब हम सवाल-जवाब की बजाय अलग अलग उसे याद करते।"

---

# यज्ञ ही संसार–चक्र की धुरी

(गीताध्याय ३, श्लोक १०–१६)

*स्वामी आत्मानन्द*

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।**
**अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥**
**देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।**
**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥**
**इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।**
**तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥**
**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।**
**भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥**

पुरा (प्रारम्भ में) प्रजापतिः (ब्रह्मा) सहयज्ञाः (यज्ञ के साथ) प्रजाः (प्रजा) सृष्ट्वा (रचकर) उवाच (बोले) अनेन (इस [यज्ञ] के द्वारा) प्रसविष्यध्वम् (वृद्धि को प्राप्त होओ) एषः (यह) वः (तुम लोगों का) इष्टकामधुक् (अभीष्ट कामनाओं को देनेवाला) अस्तु (बने) ।

"सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ के साथ प्रजा को उत्पन्न करके कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त होओ, यह तुम्हारे लिए अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति करनेवाला बने ।"

अनेन (इसके द्वारा) देवान् (देवताओं को) भावयत (पुष्ट करो) ते (वे) देवाः (देवता) वः (तुम लोगों को) भावयन्तु (पुष्ट करें) परस्परं (आपस में) भावयन्तः (पुष्ट करते हुए) पर (परम) श्रेयः (कल्याण) अवाप्स्यथ (प्राप्त करोगे) ।

"इस यज्ञ के द्वारा तुम देवताओं को पुष्ट करो और वे देवता

तुम लोगों को पुष्ट करें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे का पोषण करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होओगे।"

देवा: (देवता लोग) यज्ञभाविता: (यज्ञ से पुष्ट हो) इष्टान् (अभीष्ट) भोगान् (भोग्य वस्तुएँ) व: (तुम लोगों को) दास्यन्ते (देंगे) हि (इसलिए) तै: (उनके द्वारा) दत्तान् (दिये गये) एभ्य: (इन्हें) अप्रदाय (प्रदान न करके) य: (जो) भुंक्ते (भोग करता है) स: (वह) स्तेन: एव (चोर ही है)।

"देवतागण यज्ञ से सन्तुष्ट और पुष्ट हो तुम लोगों को अभीष्ट भोग्य वस्तुएँ प्रदान करेंगे। इसलिए उनके द्वारा प्रदत्त-भोगों को उन्हें बिना दिये जो भोग करता है, वह चोर ही है।"

यज्ञशिष्टाशिन: (यज्ञ का बचा हुआ खानेवाले) सन्त: (सन्त जन) सर्वकिल्बिषै: (समस्त पापों से) मुच्यन्ते (मुक्त हो जाते हैं) ये तु (किन्तु जो लोग) आत्मकारणात् (अपने लिए) पचन्ति (पकाते हैं) ते (वे) पापा: (पापी लोग) अघं (पाप को) भुंजते (खाते हैं)।

"यज्ञ का अवशिष्ट खानेवाले सन्तजन समस्त पापों से मुक्त हो जाते है, किन्तु जो केवल अपने लिए पकाते हैं, वे पापी जन तो पाप ही खाते हैं।"

पूर्व प्रवचन में हमने यज्ञार्थ कर्म का स्वरूप देखा। भगवान् कृष्ण हमें अपने स्वभावनियत कर्म को यज्ञकर्म बना लेने का निर्देश देते हैं। अब उपर्युक्त श्लोकों में वे बता रहे हैं कि हमें क्यों अपने कर्म को यज्ञ बना लेना चाहिए। एक कारण तो उन्होंने बता ही दिया है कि कर्म जब यज्ञ बन जाता है, तब उसका बन्धन नहीं लग पाता। पर यहाँ पर एक दूसरा कारण यह बताते हैं कि यह संसार-चक्र ही एक विराट् यज्ञ है, जिसमें

सूर्य, चन्द्रमा, तारे, वायु, अग्नि, वरुण, पृथ्वी, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, पशु-पक्षी सभी अपनी अपनी आहुतियाँ दे रहे हैं, अतः मनुष्य का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इस विराट् यज्ञ में अपनी भी आहुति दे। यज्ञ का तात्पर्य होता है समर्पण। अग्नि में आहुति डालना समर्पण का ही प्रतीक है। ब्रह्मा ने सृष्टि के साथ ही यज्ञ को भी उत्पन्न किया और उत्पन्न की हुई प्रजा से कहा कि यह यज्ञ तुम्हारी वृद्धि करेगा और तुम्हारी अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति करेगा। यज्ञ को 'इष्टकामधुक्' कहा। यह यज्ञ हर वस्तु के साथ लगा हुआ है। हम संसार मे जो भी पदार्थ उत्पन्न करते हैं, उसे यज्ञ के द्वारा ही करते हैं। अग्नि में 'सोम' की आहुति होना ही यज्ञ कहलाता है। इस सोम शब्द को समझाना बड़ा कठिन है। प्रत्येक वस्तु में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के ये पाँच तत्त्व होते हैं। इनमें जल का जो सारभूत अंश होता है, उसे 'सोम' के नाम से अभिहित किया जा सकता है। जैसे अग्नि में जब हम घृत आदि का हवन करते हैं, तो घृत आदि पदार्थों का जो जलीय सारभूत अंश होता है, उसे अग्नि ग्रहण करती है। यह अग्नि का सोम के साथ युक्त होना है। जैसे हम अन्न उत्पन्न करते हैं। उसके लिए जमीन में हल चलाते हैं। मिट्टी का ऊपर का स्तर जब कट जाता है, तो पृथ्वी में जो एक प्रकार की अग्नि व्याप्त है, वह प्रकट हो जाती है। उसमें तब हम बीज और जल की आहुति

देते हैं। बीज में सोम व्याप्त है ही और जल तो सोम का ही स्थूल रूप है। तो, यह सोम ही अग्नि के साथ मिलकर संसार के समस्त पदार्थों को उत्पन्न करता है। श्रुति कहती है--

त्वमिमा ओषधीः सोम सर्वाः
त्वमपो अजनयस्त्वंगाः।
त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं
त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थं ।।

--'हे सोम, तुमने इन सब ओषधियों को उत्पन्न किया है, फिर तुमने ही जल को उत्पन्न किया है। तुमने ही गौओं को भी उत्पन्न किया है। तुमने अन्तरिक्ष को बहुत फैला रखा है। तुम ही ज्योति के द्वारा अन्धकार को दूर करते हो।' तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में सोम ही व्याप्त है। ओषधियों में सोम की मात्रा अधिक होती है। ओषधि वे हैं, जिनका पौधा फल पकाकर स्वयं नष्ट हो जाता है--'ओषधयः फलपाकान्तः'; जैसे धान, जौ, गेहूँ आदि। और वनस्पति वे हैं, जिनका वृक्ष तो स्थायी रहे पर फल शीघ्र नष्ट हो जायँ। सूर्य की अग्नि बीज के सोम को अपनी ओर आकर्षित करती है। इस यज्ञ से अन्न उत्पन्न होता है। अन्न से प्राणियों की कामनाएँ पूर्ण होती हैं। प्रजा की वृद्धि में भी यही यज्ञ कारणस्वरूप होता है। स्त्री के गर्भाशय की अग्नि के साथ जब पुरुष के रेत में स्थित सोम की आहुति होती है, तो उससे गर्भाधान होता है। भ्रूण का गर्भाशय में बढ़ना भी यज्ञक्रिया से

सम्पन्न होता है। इस प्रकार सन्तान की उत्पत्ति होती है। खनिज पदार्थ भी अग्नि और सोम के संयोग से बनते हैं। मतलब यह कि संसार के सारे पदार्थों की उत्पत्ति के पीछे अग्नि में सोम की आहुति है। फिर, यह सोम और अग्नि दोनों स्वतः यज्ञ से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ससार-चक्र की धुरी में यह यज्ञ विद्यमान है।

यदि यज्ञ का ऐसा व्यापक अर्थ न ले हम उसका परम्परागत अर्थ लें, तो दसवें श्लोक का यह तात्पर्य होगा कि ब्रह्मा ने मनुष्य-प्रजा को उत्पन्न करके उसे यज्ञरूपी साधन दिया और उससे कहा कि तुम इस यज्ञ के द्वारा प्रकृति की सूक्ष्म देवरूप शक्तियों को सन्तुष्ट करो और उन शक्तियों से फिर मनचाहा वरदान प्राप्त करो। जब हम यज्ञ के प्रचलित स्वरूप पर विचार करते हैं और उसके मूल में जाने की चेष्टा करते हैं, तो दिखायी देता है कि मनुष्य आदिकाल से प्रकृति की इन शक्तियों को सन्तुष्ट करने की विधियाँ खोजता रहा है। आदिम मानव-मन प्रकृति की शक्तियों से भय खाता दिखायी देता है। उसे दावानल के पीछे कोई शक्ति दिखायी देती है, जिसे उसने 'अग्नि' का नाम दिया। वर्षा के पीछे निहित शक्ति को उसने 'वरुण' कहकर पुकारा। आँधी के पीछे 'मरुत' की प्रेरणा देखी। उसने देखा कि ये शक्तियाँ उसकी पहुँच से परे हैं। एक एक शक्ति के पीछे उसने एक एक अधिष्ठाता देवता की कल्पना की और सोचा कि ये देवता सूक्ष्म रूप से कहीं ऊपर में निवास करते हैं।

जब उसने जंगल में लगी आग के धुएँ को ऊपर की ओर उठते हुए देखा, तो कल्पना की कि यह धुआँ ऊपर देवताओं तक जाता होगा। उसने इन प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण किया। उसे लगा कि हम मानवों को जो वस्तुएँ प्रिय हैं, वे ही उन्हें भी प्रिय होंगी और उसने अग्नि में उन उन वस्तुओं की आहुति दे धुएँ के रूप में उन देवताओं तक पहुँचाने की कल्पना की। इससे यज्ञ-प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ। ये देवता धीरे धीरे अधिकाधिक शक्तिशाली होने लगे और यज्ञ-प्रक्रिया की जटिलता भी उस परिणाम में बढ़ती चली। वेदों को पढ़ने से मानवमन के विकास की कहानी हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाती है। वहाँ इन देवताओं से सम्बन्धित सुन्दर सुन्दर सूक्त और स्तोत्र हैं, जहाँ प्रार्थना की गयी है---हे अग्नि, तुम हमारे घरों को न जलाओ, हमारा पशु-धन और धान्य नष्ट न करो, हम तुम्हें पोषण देनेवाला यह अत्यन्त प्रिय सोमरस अर्पित करते हैं। हे मरुत, हे वरुण, हमारी सम्पत्ति नष्ट न करो, हम तुम्हारे लिए ये आहुतियाँ अर्पित करते हैं।

तात्पर्य यह कि तब यह यज्ञ देवताओं और मनुष्यों में सम्बन्ध-सूत्र का कार्य करता था। मानव प्रकृति की इन शक्तियों के प्रति विनत और समर्पित था। वह प्रार्थना और विनय पूर्वक इन देवताओं को अपने अनुकूल रखने की चेष्टा करता था। इससे सन्तुलन ठीक बना हुआ था। पर आज हम प्रकृति पर दर्पपूर्वक शासन

करना चाहते हैं। विज्ञान के माध्यम से मनुष्य ने इतनी शक्ति हासिल कर ली है कि वह प्रकृति को चुनौती देने में भी संकोच नहीं करता। विज्ञान और योग की प्रवृत्तियों का यही मूलभूत अन्तर है। योग प्रकृति को माता मानता है और उससे आशीर्वाद पाने की आकांक्षा रखता है। वह समर्पण के द्वारा प्रकृति की शक्तियों की अनुकूलता प्राप्त करना चाहता है। यह भारतीय अध्यात्म की दृष्टि है, जिसे यहाँ पर 'यज्ञ' शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। विज्ञान का दृष्टिकोण इससे विपरीत है। वह प्रकृति को अपनी दासी, भोग्या के रूप में दखता है, इसलिए वह बलपूर्वक उस पर शासन करना चाहता है। माता तो वात्सल्य से प्रेरित हो अपनी सम्पदा सन्तानों को देती है, इसलिए अध्यात्म के पथ में प्रेम होता है, भावना होती है, जीव-जगत् के सन्तुलन को बनाये रखने की चेष्टा होती है। पर विज्ञान के रास्ते शुष्क बौद्धिकता होने के कारण नीरसता होती है, सघर्षण होता है और उसमें जीव-जगत् का सन्तुलन कायम नहीं रह पाता। आज के युग के उदाहरण से यह बात स्पष्ट है। महाभारतकालीन समाज भी इसका एक उदाहरण है, क्योंकि तब भी हमें भौतिक विज्ञान का चरमोत्कर्ष दिखायी देता है।

तो, जैसा हम पूर्व में कह चुके हैं, यज्ञ तब एक सामाजिक कार्य होता था और सब लोग मिलकर प्रकृति की शक्तियों के निमित्त, देवताओं के निमित्त उस यज्ञ

के माध्यम से अपनी समर्पण-वृत्ति को प्रकट करते थे। यज्ञ मानो स्थूल और सूक्ष्म को जोड़ने की कड़ी था। यह मान्यता थी कि यज्ञ से ये देवता प्रसन्न और पुष्ट होंगे और याजकों को मनचाही वस्तुएं देंगे। इसीलिए ग्यारहवें श्लोक में कहा गया है कि तुम और देवतागण एक दूसरे का पोषण करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होओ। और यज्ञ ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा हम एक दूसरे को तुष्ट कर सकते हैं। जैसे विराट् यज्ञ-चक्र में यदि सूर्य वनस्पति और ओषधि से सोमरस खींच पुष्ट होता है, तो वह संसार को अपने प्रकाश से ऊर्जा और प्राणवत्ता भी देता है। यही नियम सर्वत्र लागू हुआ दिखायी देता है।

'देव' शब्द का एक अर्थ ज्ञानेन्द्रियों की सूक्ष्म शक्ति भी होता है। जैसे प्रकृति में हमारे शरीर से बाहर की सूक्ष्म शक्तियों को 'देव' शब्द से अभिहित किया गया है, उसी प्रकार हमारे शरीर के भीतर की शक्तियों को भी 'देव' कहा गया है। चक्षु, कर्ण, घ्राण, रसना और स्पर्श इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के पीछे एक एक देवता की विद्यमानता मानी गयी है। तो, यदि हम यज्ञ को कर्मेन्द्रियों से सम्पन्न होनेवाला कर्म मानें, तो यज्ञ और देवताओं को क्रमशः कर्म और बुद्धि के रूप में देख सकते हैं। यदि मनुष्य कर्म के द्वारा बुद्धि की सेवा करे, तो बुद्धि भी अपने ज्ञान, अपनी विद्या के द्वारा उसकी सेवा करेगी। यह मानो अन्ध-पंगु-न्याय हो गया।

बचपन में एक कहानी में पढ़ा था कि एक गाँव में आग लग गयी। सब तो अपने प्राण बचाकर भाग गये, पर दो व्यक्ति नहीं भाग पाये। एक अन्धा था, वह आग की लपटों का अनुभव तो करता था और अपने पैरों से इधर उधर भाग भी रहा था, पर आँखें न होने से वह रास्ता नहीं देख पा रहा था, इसलिए आग की लपटों से अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो रहा था। दूसरा पंगु था। वह बचने का रास्ता तो देख रहा था, पर पैर न होने से चल नहीं पा रहा था। उसे एक युक्ति सूझी। उसने पुकारकर अन्धे को अपने पास बुलाया। अन्धे के पास आने पर उसने कहा--सूरदास, तुम मुझे अपने कन्धे पर चढ़ा लो। मैं अपनी आँखों से तुम्हें रास्ता दिखाऊँगा, तुम अपने पैरों से भाग चलना। ऐसा ही हुआ और दोनों बच गये। कर्म और बुद्धि का ऐसा ही संयोग करना पड़ेगा। कर्म बुद्धि को गति के रूप में पोषण देगा और बुद्धि कर्म को दिशा के रूप में पोषण प्रदान करेगी। हमें गति और दिशा दोनों चाहिए। यह मानो प्रजा और देवता का परस्पर पोषण करना है। इससे प्रजा का भी कल्याण होगा और देवता का भी।

बारहवें श्लोक में कहते हैं कि यज्ञ से सन्तुष्ट देवता तुम्हें वांछित भोग देंगे। इसका तात्पर्य यह है कि जो भी भोग हमें प्राप्त होता है, वह सूक्ष्म शक्तियों की कृपा से ही। अतः हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम प्राप्त भोगों का अग्र भाग देवताओं को अर्पित करें और

फिर हम स्वयं लें। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं, तो हम चोर हैं। यहाँ पर 'स्तेन' शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः स्तेन (चोर) वह है, जो दूसरे की वस्तु बिना बतलाये ले लेता है। यहाँ पर 'कृतघ्न' शब्द का प्रयोग अधिक उचित होता। व्यक्ति जिनसे भोग प्राप्त करता है, कृतज्ञता कहती है कि पहले उनका स्मरण करो, उनका भाग आदरपूर्वक अलग कर दो और फिर तुम उसका भोग करो। यदि तुम ऐसा नहीं करते, तो अकृतज्ञ हो, कृतघ्न हो। यहाँ पर 'चोर' इस अर्थ में कहा है कि देवों के दिये हुए भोग आदि प्राप्त कर हम उनका स्मरण नहीं करते, जैसे चोर चोरी से प्राप्त भोगों को भोगते हुए उन लोगों के वास्तविक स्वामी का स्मरण नहीं करता।

हमें तो बचपन से ही ऐसी शिक्षा मिली है कि प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में ईश्वर का स्मरण करो। जो भी भोग हमें मिलता है, उसके लिए हम ईश्वर के प्रति अनुगृहीत हों। मैं बचपन में देखता था--माँ भोजन परोसने से पूर्व भात, दाल, तरकारी, रोटी और जो कुछ भी बना होता, उसका तनिक सा हिस्सा चूल्हे की आग में डाल देतीं और अन्न के पाँच छोटे छोटे गोले बनाकर अलग रख देतीं। मैं समझ नहीं पाता था कि वे ऐसा क्यों करती हैं। एक दिन मुझे जोरों की भूख लगी और मैं जल्दी खाना परोसने के लिए माँ से आग्रह करने लगा। उन्होंने भी जल्दी जल्दी रसोई उतारी, सब चीजों का थोड़ा थोड़ा अंश ले चूल्हे की आग में डाला और अन्न के पाँच

गोले बनाकर, उन्हें अलग रखकर मुझे खाना परोसने लगीं। मैंने उसका कारण पूछा। माँ बोलीं--देखो, बेटे, अग्नि देवता हमारी रसोई को पकाकर हमें पोषण देते हैं, तो हमारे लिए भी यह उचित है कि उनके द्वारा तैयार की गयी रसोई का अग्रभाग उनको समर्पित कर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन करें। फिर देखो, घर में बिल्ली है, कुत्ते हैं, कौए तथा अन्य पक्षी हैं। ये भी आस लगाये रहते हैं कि उन्हें कुछ मिल जाय। सो ये पाँच गोले उन सबके निमित्त हैं। माँ विशेष पढ़ी-लिखी नहीं थीं, पर उनके भीतर भी यह यज्ञ-भाव कितनी दृढ़ता से अंकित था! तब तो मैं बालक था, माँ की बात को समझने लायक नहीं था, पर जब बड़े होकर गीता आदि शास्त्रों का मैंने अनुशीलन किया, तो माँ की भावना का स्मरण कर मुझे एक विलक्षण सुख की अनुभूति हुई थी।

तो, यही यज्ञ-भाव संसार-चक्र की धुरी है। हमारे हिन्दू परिवारों में पंचमहायज्ञ की प्रथा प्रचलित थी। अब तो वह प्रथा नष्ट हो गयी है, पर कुछ वर्ष पहले तक अधिकांश गृहस्थ इस नित्य पंचमहायज्ञ का पालन करते थे। यह भी संसार-चक्र को सुचारु रूप से चलाने का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। इसका आधार यह था कि गृहस्थाश्रमियों को जो नाना प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं, उनसे, इच्छा न करते हुए भी, अनेक छोटे छोटे प्राणियों का वध हो जाता है। इससे पाप होता है।

ऐसे पाप को पाँच श्रेणियों में बाँटा गया है और उससे मुक्त होने की जो व्यवस्था की गयी है, उसे 'पंचमहायज्ञ' कहकर पुकारते हैं। वे पाँच प्रकार के पाप हैं--

कण्डन पेषणं चुल्ली उदकुम्भश्च मार्जनी।
पचसूना गृहस्थस्य पचयज्ञात्प्रणश्यति ॥

--ओखली, चक्की, चूल्हा, जल का घड़ा और झाड़ू इन वस्तुओं का व्यवहार गृहस्थ मात्र को प्रतिदिन करना होता है। इन चीजों का व्यवहार करते समय अनेक प्रकार के छोटे छोटे कीड़े-मकोड़ों का नष्ट होना स्वाभाविक। है और इसलिए प्राणीवधजनित पाप का लगना भी स्वाभाविक है। कोई गृहस्थ इन पापों से बच नहीं सकता। अनजान में किये गये इन दैनन्दिन पापों से मुक्त होने के लिए पंचमहायज्ञ की व्यवस्था की गयी है। 'मनुस्मृति' के अनुसार ये पंचमहायज्ञ हैं--

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ३/७०

--शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन या पढ़े गये विषय का नित्य पारायण ब्रह्मयज्ञ या ऋषियज्ञ कहलाता है, और तर्पण पितृयज्ञ। होम-हवन यानी नित्य अनुष्ठेय अग्निहोत्र आदि देवयज्ञ हैं। पकायें हुए अन्न में से कुछ भाग कीड़े-मकोड़ों तथा गाय, कौआ, कुत्ता, बिल्ली आदि के लिए डाल देना भूतयज्ञ है और जो कोई भोजन के समय अपने घर आ जाय उसे सत्कारपूर्वक भोजन कराना मनुष्ययज्ञ है। ये पांच यज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के

लिए अवश्यमेव कर्तव्य हैं। मनुष्य का केवल अपने परिवार के प्रति ही कर्तव्य नहीं हैं, बल्कि संसार के सभी प्राणियों के प्रति भी उसका कर्तव्य है। उस पर पाँच प्रकार के ऋण होते है। एक तो गुरु से जो उसने पढ़ा, उसका गुरुऋण होता है। पिता ने जन्म दिया, इसलिए पितृऋण होता है। देवता उसे वर्षा से जल, अग्नि से ताप आदि देकर उसकी वृद्धि करते हैं, इसलिए उस पर देवऋण चढ़ा होता है। गाय उसे दूध देती है, बैल उसका हल चलाते हैं, कुत्ता रखवाली करता है, बिल्ली चूहे आदि के उत्पातों से उसकी रक्षा करती है, इसलिए उस पर भूतऋण होता है। मनुष्य-समाज में वह रहता है और दूसरे मनुष्यों से सहयोग पाता है, इसलिए उस पर नृऋण चढ़ा होता है। इन पाँचों से उऋण होने के लिए उसे उपर्युक्त पंचमहायज्ञ करने चाहिए।

आचार्य शंकर ने पंचदेवता की पूजा और पंचमहायज्ञ पर विशेष बल दिया था और इन दोनों अनुष्ठानों को हिन्दूमात्र के लिए अनिवार्य करके उन्होंने नष्ट होते हिन्दू धर्म को बचा लिया था। पर खेद है, इस समय ये अनुष्ठान लगभग लुप्त-से हो गये हैं। आज भी यज्ञ तो होते हैं, पर वे नितान्त अप्रभावी होते हैं, क्योंकि न तो अब तब के से ऋत्विज और पुरोहित रह गये हैं, न यज्ञ की विधि ही। तथापि कुछ कुछ घरों में आज भी पंचदेवता की पूजा प्रचलित है। कई घर ऐसे हैं, जहाँ पर रसोई इष्टदेवता के नाम बनती है

और उन्हें नैवेद्य देकर ही घर के लोग प्रसाद के रूप में भोजन पाते हैं, प्राचीन प्रथा थी इष्टदेवता को नैवेद्य देना और पंचमहायज्ञ का अनुष्ठान करना। फिर जो शेष बचे, उसे घर के लोगों के साथ ग्रहण करना। इसीलिए तेरहवें श्लोक में कहा गया है कि जो यज्ञ का अवशिष्ट खाते हैं, वे सन्त हैं और वे समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं। स्वार्थ सबसे बड़ा पाप है। जो स्वयं के भोजन के लिए रसोई पकाता है, वह मानो पाप ही खाता है, क्योंकि वह स्वार्थी है। पर जो इष्टदेवता को निवेदित कर, घर के बड़े-बूढ़ों, लड़के-बच्चों और नौकर-चाकरों को खिलाकर अन्त में खाता है, उसे 'सन्त' कहा गया है। स्वामी विवेकानन्द स्वार्थ को अनैतिक मानते हैं। वे कहते हैं, "नीतिसंगत और नीतिविरुद्ध की यही एकमात्र व्याख्या हो सकती है कि जो स्वार्थपर है, वह नीतिविरुद्ध है और जो निःस्वार्थपर है, वह नीतिसंगत है।" वे निःस्वार्थता को ही ईश्वर मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जो सबको खिलाकर फिर स्वयं खाता है, वह मानो यज्ञ का उच्छिष्ट खाता है, इसलिए सन्त है। यज्ञ का एवंविध अवशिष्ट खाने से वह सब प्रकार के पापो से मुक्त हो जाता है। इसका बृहत्तर तात्पर्य यह है कि जो दूसरों की चिन्ता कर, समाज की चिन्ता कर, फिर अपनी चिन्ता करता है, वही वस्तुतः यज्ञावशिष्टभोजी है। जो केवल अपने लिए कमाता है, अपने लिए संचय करता है और

समाज के दुरवस्थासम्पन्न लोगों की सहायता के लिए कुछ नहीं करता, वह पाप ही खाता है। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि धन का संचय बिना दूसरों के शोषण के नहीं हो सकता। और यह नितान्त सत्य है। जो भी धन की दृष्टि से बड़े बने हैं, वे दूसरों का शोषण करके ही बड़े बने हैं और यदि वे एवंविध संचित धन का उपयोग समाज की उन्नति के लिए न करें, तो वे अपने धन का नहीं, पाप का भोग करते हैं।

इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से हम सबको इस व्यापक यज्ञ की बात बतलायी तथा उस यज्ञ-परम्परा का भी वर्णन किया, जिसके द्वारा हम विश्व-प्रकृति में व्याप्त सूक्ष्म शक्तियों को उद्बुद्ध कर अपना कल्याण कर सकते हैं। अब वे उस विराट् यज्ञ-चक्र का वर्णन करते हैं, जो इस विश्व में चला हुआ है। वे कहते हैं--

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

भूतानि (प्राणी) अन्नात् (अन्न से) भवन्ति (उत्पन्न होते हैं) पर्जन्यात् (मेघ से) अन्नसंभवः (अन्न की उत्पत्ति होती है) यज्ञात् (यज्ञ से) पर्जन्यः (मेघ) भवति (होता है) यज्ञः (यज्ञ) कर्मसमुद्भवः (कर्म से उत्पन्न होता है)।

"अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति मेघ से होती है। मेघ यज्ञ से होता है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है।"

कर्म (कर्म को) ब्रह्मोद्भवं (वेद से उत्पन्न) विद्धि (जानो) ब्रह्म (ब्रह्म) अक्षरसमुद्भव (अक्षर से उत्पन्न है) तस्मात् (इसलिए) सर्वगतं (सर्वव्यापी) ब्रह्म (ब्रह्म) नित्यं (नित्य) यज्ञे (यज्ञ में) प्रतिष्ठितम् (प्रतिष्ठित है)।

"कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ जानो और वेद को अक्षर से। इसलिए सर्वव्यापी वेद नित्य यज्ञ मे प्रतिष्ठित है।"

यः (जो) इह (इस लोक में) एवं (इस प्रकार) प्रवर्तितं (प्रवर्तित) चक्रं (चक्र को) न (नहीं) अनुवतर्यति (अनुसरण करता) पार्थ (अर्जुन) सः (वह) अघायुः (पापी है) इन्द्रियारामः (इन्द्रियों में रमनेवाला है) मोघं (व्यर्थ) जीवति (जीवन-धारण करता है)।

"जो इस लोक में इस प्रकार प्रवर्तित यज्ञ-चक्र के अनुसार व्यवहार नहीं करता, वह पापी और इन्द्रियाराम है तथा व्यर्थ ही जीवन-धारण करता है।"

यह प्रकृति का यज्ञ है, जो सर्वत्र चला हुआ है तथा जिसके कारण प्राण-धारण सम्भव हो पाता है। चौदहवें श्लोक में बताया कि अन्न से प्राणी होते हैं। यदि कोई प्राणी अन्न न खाए, तो वह जीवित नहीं रह सकता। वनस्पतियाँ, वृक्ष के फल-फूल, दुग्ध यह सब अन्न के अन्तर्गत आता है। अन्न से रस, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा आदि क्रम से सातवें स्थान में शुक्र पैदा होता है। इस शुक्र (वीर्य) से प्राणी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अन्न से प्राणियों का होना चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से सिद्ध है। फिर कहा कि अन्न मेघ से होता है। मेघ जब बरसता है, उससे अन्नादि

उत्पन्न होते हैं, यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है। तदनन्तर बताया कि मेघ यज्ञ से होता है। 'मनुस्मृति' कहती है--

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ ३/७६

--'अग्नि में विधिपूर्वक दी हुई आहुति सूर्य में स्थित होती है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है।'

हम ऊपर में कह चुके हैं कि यज्ञ समर्पण की एक सांकेतिक क्रिया है। हम यज्ञ में आहुति के माध्यम से मानो अपने ही अहं की बलि देते हैं। इस समर्पण का सूर्यादि देवताओं पर सुप्रभाव पड़ता है और वे हमें यथोचित मात्रा में पर्जन्य आदि का दान करते हैं। यह तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है कि सूर्य के कारण ही मेघ बनते हैं। यदि हम सूर्य में अवस्थित देवता को प्रसन्न कर सकें, तो वह हमारा भी भला देखेगा। हमें उचित मात्रा में वर्षा देगा। यह संसार भावना पर ही तो टिका है। एक योगी हिमालय की गुफा में अपने को बन्द कर ले सकता है, पर उसके जो विचार होंगे, वे गुफा में बन्द नहीं रह पाएँगे, वे तो गुफा की दीवालों को भेदकर सर्वत्र फैल जाएँगे और मानव-समाज का हितसाधन करेंगे। हम जो पढ़ते हैं कि ऋषियों के आश्रमों में हिंस्र पशु अपनी हिंसा-भावना भूल जाते थे, उसका यही अर्थ है। ऋषियों का अहिंसा-बोध इतना तीव्र होता था कि उसका प्रभाव हिंस्र पशुओं के मन पर भी पड़ता था। कहने का तात्पर्य

यह है कि यज्ञ के पीछे ऐसी ही तीव्र समर्पण-भावना हुआ करती थी, जो विश्व में व्याप्त सूक्ष्म शक्तियों को अपने अनुकूल बना लेती थी।

तत्पश्चात् कहा--'यज्ञः कर्मसमुद्भवः'--यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। अब यज्ञ भी एक कर्म है। तो कर्म से कर्म उत्पन्न होता है यह कहने का क्या मतलब? हमने ऊपर विवेचन किया कि यज्ञ में भावना की प्रधानता होती है, पर यह भावना कर्म के बिना चल नहीं पाती, प्रभावी नहीं हो पाती। यज्ञ के भावना और क्रिया ऐसे दो भाग होते हैं। भावना से वह शक्ति उपजती है, जिसे पूर्वमीमांसा ने 'अपूर्व' कहकर पुकारा है। यह अपूर्व ही कर्म का फल प्रदान करता है। यज्ञ का जो दूसरा भाग है क्रिया, वह तो कर्म से ही सम्पन्न होती है। इसीलिए कहा कि यज्ञ कर्म से उपजता है। फिर, इसे यों भी समझा जा सकता है कि ऋत्विजों और यजमान के कर्म ही यज्ञ को सम्पन्न करते हैं। इन सबका अलग अलग कर्म एक साथ मिलकर यज्ञ को उत्पत्ति करता है।

पन्द्रहवें श्लोक में कहा कि 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'--कर्म को ब्रह्म से उत्पन्न जानो। बहुत से टीका-कारों ने 'ब्रह्म' का अर्थ 'वेद' किया है, क्योंकि वे ब्रह्म शब्द का अर्थ 'ब्रह्मा' लेते हैं। और ब्रह्मा को चारों वेदों' का उद्गाता माना जाता है। वेदों में निरूपण है कि किस देवता की प्रसन्नता के लिए कौन से कर्म करने चाहिए। वेद हमें कर्म का निर्देश देते हैं, यानी यज्ञों

का ज्ञान हमें वेदों से होता है। ये वेद अक्षर से, परमात्मा से निकले हैं। परमात्मा ही वेदों के ज्ञान को प्रकाशित करता है--'यस्य निःश्वसितं वेदाः'। इस प्रकार प्राणियों को परमात्मा के साथ जोड़ दिया। परमात्मा से वेद, वेद से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से पर्जन्य, पर्जन्य से अन्न और अन्न से प्राणी। अब प्राणी यदि परमात्मा से सीधे जुड़ना चाहता है, तो उसे इस यज्ञ-चक्र का एक अनिवार्य अंग बनना पड़ेगा। प्राणियों में केवल मनुष्य ही ऐसा है, जो इसे साधित कर ले सकता है। इसीलिए उसे भगवान् कृष्ण का आह्वान मिलता है कि अपना कर्म यज्ञ बना लो, इस यज्ञ-चक्र में भागी होओ।

फिर कहा--'तस्मात् सर्वगत ब्रह्म'--इसलिए यह वेद सर्वव्यापी है, सबमें समाया हुआ हैं। किसलिए ? चूँकि वेदनिर्दिष्ट कर्मों से यज्ञ होते है। और यज्ञ से पर्जन्य, अन्न आदि के क्रम से प्राणी होते हैं, इसलिए इन सभी स्तरों में वेद ही व्याप्त होकर स्थित है। अर्थात्, जीवन के सभी क्षेत्रों को वेद अपने ज्ञानालोक से उद्भासित करता है। और यह वेद यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित है। पूर्व में हम विवेचन कर चुके हैं कि वेदों के दो भाग माने जाते हैं। एक को कर्मकाण्ड कहते हैं, जिसके अन्तर्गत यज्ञ-यागादि आते हैं, जिसमें संहिता और ब्राह्मण भागों का समावेश है। और दूसरे को ज्ञानकाण्ड कहकर पुकारते है, जिसमें आरण्यक और उपनिषद् आते हैं, 'गीता' में वेद का तात्पर्य कर्मकाण्ड से ही

लिया गया है। इसालिए यहाँ पर कहते है कि वेद यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित हैं। पूर्वमीमांसक यानी कर्मकाण्डी यज्ञ को ही वेदों का सार और आदेश मानते हैं। यज्ञों के अनुष्ठान से वेदों की परम्परा सुरक्षित रहती है, इसी को वेदों का यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित होना माना है।

कुछ लोगों ने 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'प्रकृति' लिया है। 'गीता' में जहाँ पर 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' (१४/३) कहा है, वहाँ 'ब्रह्म' शब्द से 'प्रकृति' का ही तात्पर्य लिया गया है। वैसे ही 'कठोपनिषद्' में भी (२/३/१) जहाँ पर कहा गया 'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते' वहाँ भी 'ब्रह्म' का अर्थ 'प्रकृति' ही लिया गया ह। इससे श्लोक का अर्थ यों हो जायगा-- अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, मेघ से अन्न उपजता है, यज्ञ से मेघ पैदा होता है, यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है और कर्म प्रकृति से अर्थात् उसके परिणामभूत शरीर से। कर्म शरीर से होता है इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। यदि यों भी मान लिया जाय कि प्रकृति से कर्म होते हैं, तो आपत्ति की कोई बात नहीं, क्योंकि 'गीता' में ही भगवान् बता रहे हैं--'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, (३।२७)--समस्त कर्म प्रकृति के गुणों से किये जाते हैं। यह जो प्रकृति है, वह अक्षर-अव्यय परमात्मा से निकली है। इसलिए प्रकृति नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है। किसलिए? चूंकि यज्ञ के द्वारा प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों में सन्तुलन स्थापित

करने की चेष्टा की जाती है और चूंकि यज्ञ-चक्र से प्रकृति की वृद्धि और उसका पोषण होता है, इसलिए प्रकृति को यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित कहा गया। अर्थात्, यज्ञ ही प्रकृति की प्रतिष्ठा है। यज्ञ के द्वारा यज्ञ के ऋत्विज और यजमान आदि कर्तागण एक तो अपने भीतर सन्तुलन स्थापित करते हैं और दूसरे, बाहर प्रकृति में।

इस प्रकार यज्ञ की अनिवार्यता इन श्लोकों में प्रदर्शित हुई है। सोलहवें श्लोक में बताया कि जो इस संसार-चक्र को चलानेवाले यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करता, अर्थात् जो केवल अपने लिए जीता है और समाज के हित का जिसे कोई ध्यान नहीं, ऐसा व्यक्ति पापी है, उसका जीवन केवल इन्द्रियपरायणता का जीवन है। वह पशु से किसी प्रकार अच्छा नहीं, क्योंकि पशु भी तो इन्द्रियपरायण ही होते हैं। ऐसे व्यक्ति का मनुष्य-जन्म पाना वृथा हो जाता है। यदि मनुष्य अपने जन्म को सार्थक करना चाहता है, तो वह यज्ञार्थ कर्म करे, अपने जीवन की क्रियाओं को यज्ञ-भावना से करता चले। इससे कर्म का बन्धन उस पर नहीं लगेगा। अर्जुन के लिए निर्देश यह है कि वह अपना स्वभाव-प्राप्त युद्धकर्म यज्ञ मानकर ही करे, ऐसा सोचे कि यदि वह युद्ध नहीं करेगा, तो विश्व-चक्र के चलने में बाधक बनेगा और इस प्रकार पाप का भागी होगा। इसकी विस्तृत व्याख्या हम पहले कर ही चुके हैं।

०

# तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में (३)

(स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्यों में अन्यतम थे। उनके कथोपकथन बँगला मासिक 'उद्बोधन' में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे। उन्हें संग्रहित कर हिन्दी में अनूदित करने का कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी वागीश्वरानन्द ने किया है। --स०)

अल्मोड़ा

२० अगस्त १९१५

जिस समय ध्यान और ध्येय एक होकर सामने रहते हैं, उसी समय ठीक ठीक ध्यान होता है। जिस समय जप अपने आप होने लगता है, मन का एक अंश सतत जप करता रहता है, तभी कहा जा सकता है कि जप कुछ हद तक साध्य हुआ है। हर एक साधना में 'मैं' को भूलना होगा। जब कभी तुम्हारा मन किसी भाव से etated (उत्फुल्ल) होता है, तभी जानना कि उस भाव में depress (अवसन्न) करने की शक्ति भी विद्यमान है। किसी भाव के साथ identified (एकरूप) होने से काम नहीं चलेगा। सभी भावों से परे रहना होगा। किसी तरह एक बार 'ढाई' (खूँटे) को छू लेना होगा, उसके बाद किसी के छूने पर भी तुम्हे 'चोर' नहीं बनना पड़ेगा। एक समय मुझे ऐसी उपलब्धि हुई थी कि मैं यह जो कदम रख रहा हूँ, वह भी भगवान् की ही शक्ति से, मेरी अपनी कोई शक्ति नहीं--यह मैं ठीक ठीक देख पाता था। यह भाव कुछ दिन तक था।

किसी से कुछ आशा मत रखना--परन्तु सबको

देना। नहीं तो शुष्क भाव आ जायगा। यह (उदार भाव) तुम्हें ठाकुर के दरबार में ही दिखायी देगा। वरना मैंने अनेक साधु देखे हैं, जो सोचते हैं--'मैं साधु बन गया हूँ, मेरा किसी से सरोकार नहीं।' 'हे मन, अपने आप में मग्न रहो, किसी के यहाँ मत जाओ'-- यह भाव मन में सर्वत्र जागृत रखना। अर्थात् अपना मन किसी को न देना, मन केवल भगवान् ही को देना। इसीलिए तो हमने विवाह नहीं किया। मन किसी को नहीं देना चाहिए। रोते हुए प्रभु से कहना चाहिए-- 'प्रभो, यही करो कि मैं साढे सोलह आना मन लगाकर तुमसे प्रेम कर सकूं।' ठाकुर हमें सिखाते थे--हाथों से सब काम करते रहो, पर मन प्रभु के निकट पड़ा रहे।

तुलसी ऐसा ध्यान धर जैसे बियन की गाइ।
मुँह से तृनचारा चरै चेत रखै बछड़ाइ॥

हम लोग दूर दूर रहते हैं, यह बहुत अच्छा है। महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) आजकल एकान्त में रहते हैं, किसी से ज्यादा मिलते नहीं। एक बार मन के उस पार गये बिना रक्षा नहीं है। लोहा कितना ही अच्छा क्यों न हो, उसे एक बार पारस को छूना ही होगा। 'ढाई' को छू लेने पर पता चलता है कि यह सब 'मैं' नहीं; भला-बुरा सब कुछ मन का है, मैं (आत्मा) अलग हूँ। सगुण ईश्वर अन्तिम लक्ष्य नहीं--सब भावों के अतीत चले जाना होगा, गुणातीत बन जाना होगा।

अभेद भक्ति--अद्वैत ज्ञान आँचल में बाँधकर जो

भक्ति की जाय, वही--शुद्ध भक्ति है। वरना जिसके सद्भाव है, उसके असद्भाव भी है।

भगवान् पक्षपाती नहीं हैं। उनकी दया सज्जन-दुर्जन सब पर है। जैसे वर्षा का जल सर्वत्र बरसता है, पर जो भूमि जोती हुई होती है, वही सफल होती है। यदि कोई कहे--'मैं प्रभु का विशेष कृपापात्र हूँ,' तो वह उसके व्यक्तिगत भाव की बात है। शायद वह अपने व्यक्तिगत जीवन की ओर देखते हुए कह रहा हो कि मुझ पर उनकी विशेष कृपा है।

फिर एक और भाव है--प्रभु ने किसी को बद्ध तो किसी को मुक्त किया है। जिसने सब कुछ एक 'देख' लिया है, उसे महान् दुःख में भी उन्हीं की कृपा दिखायी देती है।

और एक भाव है--जो कुछ अच्छा है, वह उनका है और जो बुरा है, वह मेरा दोष है--मेरे स्वयं के कर्मों का फल है। इस प्रकार विचार करते हुए मैं चला जाता हूँ।

चालाकी से क्या लाभ? कौआ चतुर होता है, परन्तु विष्ठा खाता है। हमें सब कुछ समझता है। कभी कभी तो इतना समझता है कि मन में डर लगता है। लगता है कि इतना समझने की जरूरत नहीं। देखते नहीं कि यह संसार बिलकुल सड़ियल है! यहाँ निःस्वार्थ भाव अत्यन्त विरल है! यह स्वार्थ से भरा है। लोगों का मन ईश्वर की ओर कितना है और दूसरी वस्तुओं पर कितना है देखते नहीं? संसार के प्रति वैराग्य न रहे, तो

ज्ञान भी नहीं होगा। 'भ्रात: यदिदं परिदृश्यते जगत् तत् मिथ्यैव।' * वैसे यह भी है कि वे सत्य हैं इसलिए जगत् भी सत्य है। संसार की सभी वस्तुओं को जो तुच्छ मान सकता है, वही वीर है।

ठाकुर कहते थे, 'संसार के मूल में दो वस्तुएँ हैं--कामिनी और कांचन।' कामिनी के प्रति मातृबुद्धि और कांचन के प्रति धूलिज्ञान– सच्चिदानन्द-प्राप्ति का यही एकमात्र उपाय है।

देखो न मन कितना सृजन कर रहा है---building castle in the air (आसमान में हवेलियाँ बना रहा है) और उसमें बिलकुल पूरी तरह तल्लीन हो जा रहा है-- जिस प्रकार नींद में होता है। हमारा मन ही हमारे लिए भाँति भाँति के जगत् निर्मित कर रहा है। मन ही माया है। एक ही मन के द्वारा मनुष्य स्त्री को एक प्रकार से प्यार कर रहा है और कन्या को दूसरे प्रकार से। यदि आत्मा के स्वरूप को निश्चित कर सको, तो मन में नाना प्रकार की भाव-तरंगों के रहने के बावजूद तुम उनसे अलग हो सकोगे। तब सब चीजों के रहने पर भी तुम्हें लगेगा कि कुछ नहीं है।

जिह्वा और उपस्थ---इन दोनों को मनु ने प्रबल इन्द्रियाँ कहा है। इन दोनों में जिह्वा ही प्रधान है। जिह्वा वश में न हो तो रक्षा नहीं। अपरिमित आहार को ब्रह्महत्या के समान माना गया है।

---

* 'भाई, यह जो जगत् दिखायी दे रहा है, वह मिथ्या ही है।

७ सितम्बर १९१५

जो ज्ञानी होते हैं, वे मस्तक में ध्यान करते हैं; जो भक्त होते हैं, वे हृदय में। We generally find so (हमें साधारणतया ऐसा दीख पड़ता है)। हृदय में ध्यान करते हुए जब भाव अधिक व्यापक हो जाता है, तब उसका किसी जगह location (निर्दिष्ट स्थान) नहीं रहता।

ठाकुर के दो भाव हैं। कभी वे कहते-- रूप-वूप अच्छे नहीं लग रहे हैं। सब काट देते। उस समय उन्हें काली भी अच्छी नहीं लगती; मन अखण्ड में लीन हो जाता। फिर कभी रूप के सिवा उनका काम ही नहीं चलता, कहते--माँ, तुम्हारा निराकार भाव नहीं चाहिए, ब्रह्मज्ञान नहीं चाहिए।

जिसने केवल निराकार का ही दर्शन किया है और जो सब छोड़कर उसी में लीन हो गया है, वह भी एकांगी है। ज्ञानी को भय है--कहीं फिर जन्म लेना न पड़ जाय, कहीं अज्ञान में न फँस जाऊँ। साकारवाला खिलाड़ी किसी से भी नहीं डरता। जिसने केवल साकार रूपों के दर्शन किये हैं--जिसने उस अखण्ड सच्चिदानन्द के भावातीत भाव को नहीं देखा--वह भी एकांगी है जैसे कट्टर भक्त लोग। उनके सामने परब्रह्म या निराकार कहने पर वे 'बाप रे!' कह उठते हैं।

पुराणों में है, समस्त संसार का लय हो जाने पर भगवान् साकार स्वरूप में रहते हैं। जिस प्रकार ठाकुर कहते थे, ऐसा भी स्थान है, जहाँ बर्फ नहीं

पिघलती। साकार-निराकार दोनों का साक्षात्कार होने के बाद ईश्वरीय भाव और रूप लेकर मग्न रहने पर यह बोध आता है। यह नित्य साकार है। हम लोग पहले पहल कुछ नहीं मानते थे, ठाकुर के पास आकर हमने यह सब मानना सीखा। . . .

प्रथम किसी से कुछ मत लेना; क्योंकि किसी से कुछ लेते ही मनुष्य उससे influenced (प्रभावित) हो जाता है, उसका independence (स्वातन्त्र्य) चला जाता है। वही ले सकता है, जो हजम कर सके। लेने पर भी उसके मन में कुछ नही होता। अच्छे आदमी के पास से यह जान लेने के बाद ही लेना चाहिए कि वह तुम्हारे independence (स्वातन्त्र्य) में हस्तक्षेप नहीं करेगा या तुमको control करने (वश में लाने) की कोशिश नहीं करेगा।

साधारणत: क्या होता है जानते हो ? जीवन में किसी एक stage (अवस्था) तक पहुँचकर मनुष्य वहीं बैठ जाता है, उससे ऊपर नहीं उठ पाता। इस जीवन के लिए वह उसी में satisfied (सन्तुष्ट) रह जाता है। अपने मन को वश में लाना हो तो अत्यन्त सावधान रहना चाहिए, नहीं तो यह सम्भव नहीं। मन कितने ही प्रकार से छल-प्रवंचना करता रहता है ! कोई यदि पकड़ भी ले तो excuse (सफाई) देने लगता हैं। हममें कितने प्रकार से self-love (आत्म-प्रीति) विद्यमान है, समझ में नहीं आता। क्या यह

समझना आसान है ? यह बाहर नहीं, अन्दर है;
—ı pirit (यथार्थ भाव से) यह करना बड़ा कठिन है इन्हीं सब बातों से मनुष्य का character (चरित्र) बना है।

किसी समय स्वामीजी (विवेकानन्दजी) निरामिष भोजन करते हुए बाइबिल पढ़ रहे थे। उस समय ईसा का माँसाहार उन्हें अच्छा नहीं लगा। तब उन्होंने विचार किया 'ओह, मैं निरामिष भोजन कर रहा हूँ इसलिए मुझे अहंकार हो गया है। केवल पन्ने के पन्ने पढ़ते जा रहा हूं, पर धारणा कहाँ हो रही है ?'

जब गिरीश घोष से ठाकुर ने कहा, 'ब्रह्मज्ञान की क्या बात कर रहे हो ? शुकदेव ने ब्रह्मसमुद्र का दर्शन-स्पर्शन किया और शिवजी उसका तीन चुल्लू जल पी शव बनकर पड़े हैं,' तब गिरीश घोष बोले, 'महाराज, अब आगे न कहें, (सर पर हाथ रखते हुए) सर फटा जा रहा है।'

प्रथम अवस्था में मुझे बूढ़ा होने में घृणा मालूम होती। पर बाद में सदा महाशक्ति के आधीन रहने को इच्छा हुई।

यह सब कहते हुए मै excitd (उत्तेजित) हो रहा हूं। पर ऐसा मत सोचो कि मैं अब excited (उत्तेजित) हुए बिना यह सब कह नहीं सकता। Nerves (स्नायु) बड़े weak (दुर्बल) हो गये हैं, परन्तु भीतर का सब ठीक है। पहले और अधिक सामर्थ्य थी। Nerves (स्नायु)

बहुत fine (सूक्ष्म) थे, समझने की शक्ति भी खूब थी। किसी के कोई प्रश्न पूछने पर उस प्रश्न के शुरू से आखिर तक सब कुछ देख लेता था। और मेरी एक एक बात में flood of light (प्रकाश का प्लावन-सा) रहता था। Nerves (स्नायु) के दुर्बल हो जाने से वह शक्ति चली गयी।

तुम भुलावा किसको दोगे ? खुद ही भुलावा में पड़ोगे। जो जितनी शक्ति प्रकट कर सकेगा, वह उतनी ही और पायगा। जितना दोगे, उतना ही पाओगे।

वराहनगर मठ में जब खाने के लिए कुछ नहीं रहता, तब हम दरवाजा बन्द करके खूब भजन-कीर्तन करने लग जाते। रात-रात भर ध्यान-भजन चलता। मन क्या सहज ही स्थिर हुआ है ? अब तो लोग मठ में जा आँख भरकर देखते हैं।

ठाकुर ! मेरे वैराग्य को नष्ट न करो। मन में नये संस्कार स्थापित करने हैं। वैष्णव लोगों में मन्त्रदीक्षा देने के लिए खूब जप करवा लेते हैं--सोलह -अठारह घण्टे जप करवाते हैं ! हम लोगों में ध्यान पर ही अधिक जोर है। महाराज को वृन्दावन में कितना ध्यान करते देखा है ! सुख के भीतर रहते हुए ज्ञान नहीं होता, इसीलिए तो वैराग्य का अवलम्बन करके रहना पड़ता है। रहने के लिए अच्छी जगह आदि होने पर ज्ञान नहीं होता। वैराग्य ही साधु की शोभा है।

वरना विषयों के बीच रहने से duplicity (कपट) आदि संसारी भाव आ जाते हैं।

कालीघाट के त्रिकोणेश्वर मन्दिर में रहते हुए नवरात्रि के समय मैंने मौन रखा था। एक नशा-सा छा गया था। मन सदा एकाग्र रहता। मानवजीवन में जो करना चाहिए, वह कर चुका। यही ध्येय था कि जीवन को विशुद्ध बनाना होगा। खूब पढ़ता था-- प्रतिदिन आठ-नौ घण्टे। पुराणग्रन्थ अनेक पढ़े, अन्त में वेदान्त पर आया। वेदान्त में मन बस गया। ठाकुर मुझसे हास्य-विनोद करते कहते, "क्यों जी! कुछ वेदान्त की बातें सुनाओ। वेदान्त में यही तो कहा है कि 'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या'? या और कुछ? तब और क्या? मिथ्या को छोड़ सत्य को लो।" यही मेरे life (जीवन) का turning point (परिवर्तन-बिन्दु) हुआ।

४ नवम्बर १९१५

स्वामीजी कहा करते थे, 'मन को बिलकुल कीच जैसा बनाना होगा।' जिस प्रकार कीच को जहाँ फेंक-कर मारो वहीं चिपक जाता है, उसी प्रकार मन को भी जिस विषय में लगाओ उसी में लगा रहे, हट न पाये।

किसी की देह कर्म के अनुकूल है, तो किसी की साधन-भजन के। कर्म के प्रति एक प्रकार की hankering (स्पृहा) न हो, तो कर्म नहीं होगा, तमोगुण नहीं जायगा। स्वामीजी का कार्य आ पड़ने पर तुम लोग पीछे न हटना, खूब डटकर करना। फिर जब ध्यान में

बैठो, तब कामकाज की बात भूल जाना। शरत् (स्वामी सारदानन्द) आदि खूब कर्म कर सकते हैं और ध्यान-धारणा भी कर सकते हैं। मेरा भी ऐसा ही था।

मन में कुछ ग्रहण करना भी परिग्रह ही है। जैसे तुम कह रहे हो, अभी छह महीने तो चल जायगा इन रुपयों से'---यह परिग्रह है। मन ही मन एक ठहरा रखा है कि इस प्रकार होगा। जन्म-वन्म (देह-धारण) जो कुछ है, वह इस परिग्रह के ही कारण है। तुम्हारा मन जहाँ है, वहीं तुम भी हो।

परिग्रह न करो तो तुम्हें कहाँ रहना पड़ेगा? तुम्हें आत्मा में रहना पड़ेगा। इसकी practice (अभ्यास) तुम्हें highest (सर्वोच्च) स्तर पर ले जायगी।

महापुरुषगण मन में कोई मतलब नहीं रखते। जहाँ हैं वहीं रहते हैं। कोई कहीं ले गया तो जाते हैं। उनमें कोई लगाव नहीं होता, उनका मन मानो लेपहीन हो गया है। महापुरुषों का स्वभाव मानो बच्चों का सा होता है---इस क्षण झगड़ा हुआ, फिर दूसरे ही क्षण मेल हो गया। संसारी आदमी का किसी से झगड़ा हो जाय, तो जिन्दगी भर उससे बात नहीं करेगा, उस ओर भूलकर भी नहीं जायगा।

मुझे कुछ सुविधाएं मिली थी। शरीर-स्वास्थ्य अच्छा मिला था, मन भी प्रभु ने अच्छा दिया था और सब सहन भी होता था। परिग्रह नहीं करता था। ठाकुर कहते थे, 'खूब सरल उदार बनना।' मन open

(खुला) हो। जितना छुपाओगे, दबाओगे, जितना पेच कसोगे, बात उतनी ही पेचीदा बनेगी, उलझन बढ़ती जायगी। बहुत तपस्या के परिणास्वरूप मन सरल, उदार होता है। यदि मैं मन में सोचता हूं कि घर गये सिवा नहीं चलेगा, तो मुझे घर जाना ही पड़ता है --यही परिग्रह है।

मुझे लोगों के पास रुपये-पैसे नहीं माँगते बनता --कभी माँगना भी नही पड़ा। कारण माँ ने यह भरोसा सदा दे रखा है कि मैं 'नारायण हरि' कहते हुए लोगों के घर से भिक्षा माँगकर खा सकता हूं। यह साहस मुझमें अभी भी है, अब भी मै भिक्षा माँगकर खा सकता हूं। पर हाँ, वैसा करना हो तो पाताल देवी* में रहना होगा। जिसे जो शोभा दे, वही करना चाहिए। वैसा न कर साथ में ट्रंक (पेटी) रखना और रसोई पकाकर खाना यह सब साधु के लिए ठीक नहीं।

सदा होशियार रहना चाहिए। उपनिषद् में है-- 'युक्तेन मनसा सदा समनस्क सदश्वा इव सारथेः।' क्या यह आसान बात है ? तुम लोग अच्छे आश्रय में आ गये हो। तुम्हारे तो सात खून माफ हैं। लेकिन तुम्हें निष्कपट बनना पड़ेगा। ईसा ने कहा था--जो केवल मुंह में 'प्रभो, प्रभो' कहता है वह नहीं, जो प्रभु की

* अल्मोड़ा शहर के एक छोर पर अवस्थित मन्दिर।

‡ सारथि के अच्छे घोड़ों की तरह सदा समनस्क यानी मन-रूपी लगाम के साथ युक्त।

इच्छानुसार काम करता है वही प्रभु को पायेगा।

ठाकुर कामिनी-कांचन का स्पर्श नहीं कर पाते थे। इन दो बातों से बचना होगा। हमने कितने दिन पैसा नहीं छुआ! रसना की--जीभ की सेवा करने में ही क्या जिन्दगी बीत जायगी? जीभ पर आँख तरेरकर उसे काबू में रखना होगा। उससे कहना होगा--'यह जो दे रहा हूँ, यही बहुत है। षड्रस व्यंजन भोजन करना बड़ा राजसी काम है। दाल-सब्जी-चटनी यही पर्याप्त है।'

मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। किसी बात में पीछे नहीं हटता था। मन बड़ा strong (दृढ) था। इसीलिए शरीर भी सब कुछ मान लेता था। मैं कोई भी काम थोड़ा थोड़ा करके नहीं करता था। करना हो तो एकदम पूरा करेंगे। यह विचार मन में नहीं आता कि एक दिन अधिक इतना करने से कहीं तबीयत बिगड़ तो नहीं जायगी!' मेरे मित्र कहते, तू मर जाएगा। मैं कहता, जाओ दुष्टो, तुम लोग बड़े बच जाओगे। पाँच सौ बैठकें और सौ दण्ड लगाता था।

साधु होकर ज्यादा हिसाबी बुद्धि रखना अच्छा नहीं। दो आने के लिए घिच-पिच करना ठीक नहीं।

## १२ नवम्बर १९१५

ठाकुर कहते थे, यह संसार केवल 'काम' का मामला है। संसार से निकल आना क्या मामूली बात है? ऐसे कितने लोग मिलेंगे, जिन्होंने स्त्री-प्रसंग नहीं

किया। ठाकुर excited (उत्तेजित) होकर कहते थे 'क्या बात करते हो ? माँ ने इन थोड़े जनों को शेष रखा है, इसलिए मैं जिन्दा हूं।'

संसार को ठाकुर 'कूप' कहा करते थे। इसमें एक बार गिर पड़ने से फिर निकलने का उपाय नहीं। चैतन्यदेव ने रघुनाथ का आलिंगन करके कहा था, तुम ससार-कूप से बच गये।

१३ नवम्बर १९१५

अब की 'ढाई' को छूना होगा। उसे न छूने पर भय की सम्भावना है। नाम, यश, विषय आदि आ पहुंचेंगे। अन्त में 'चोर' बनकर घर लौटने की नौबत न आये। पर 'मैं ढाई के निकट ही रहूंगा' कहने पर मुझे ठाकुर ने डाँट लगायी। जगत् मिथ्या है यह बोध होना चाहिए। वरना इतने ध्यान-भजन से लाभ ही क्या हुआ ? कुछ दिन कमर कसकर प्रयत्न करते हुए 'ढाई' को छू लो न! केवल आशीर्वाद से कुछ नहीं होने का।...

लोगों को मजा चखाना घोर संसारी बुद्धि का काम है। तुम किसी को मजा चखा रहे हो, पर तुम्हारे भी ऊपर एक जन है। वह जब तुम्हें मजा चखाएगा, तब भागने को राह नहीं मिलेगी। दिन भर में जो भूलें हुईं रोज रात को उनका हिसाब करना। तभी तो भूलें सुधरेंगी। जहाँ भी जाओ, तुम स्वयं जैसे होगे वैसा ही तुम्हें मिलेगा। तुम्हारे अन्दर जैसा होगा, बाहर तुम वैसा ही देखोगे--चाहे स्वर्ग ही में ही क्यों न जाओ। नयी परिस्थिति में आ पड़ने पर पहले-पहल थोड़ा उद्वेग

होता है, जैसे पानी में पत्थर फेंकने पर हलचल होती है। इसके बाद तुम स्वयं जैसे होगे, परिस्थिति भी उसी के अनुसार हो जाएगी। प्रभु के चरणों के सिवा अन्य कोई गति नहीं। हमलोग यहाँ-वहाँ comfort (आराम) ढूंढ़ रहे हैं, परन्तु उनके चरणों के सिवा और कहीं शांति नहीं। किसी राजा ने कहा था, चमड़े से पृथ्वी को मढ़ दूंगा, फिर पैर में धूल न लगेगी, मन्त्री ने एक जोड़ा जूते बनवा दिये, उसी से सारी पृथ्वी को चमड़े से मढ़ने का काम बन गया।

जब तक तुममें आसक्ति है, तुम अनासक्त नहीं हो, तब तक तुम कुत्ते जैसे हो -- घासफूस की तरह तुच्छ, असार हो, तुममें कोई सार पदार्थ नहीं। खूब त्याग, वैराग्य और पाण्डित्य रहना चाहिए। आजकल जो लोग यहाँ आ रहे हैं, उनमें न त्याग है, न वैराग्य, न पाण्डित्य ही—बस, शोरगुल मचाते हैं और किसी तरह दिन गुजारते हैं।

दोष-त्रुटियाँ सिर्फ स्वयं की ही देखनी चाहिए-- दूसरों की ओर ताकना ही गलत है। इस कमबख्त शरीर को जाने दो! थोड़ी मेहनत कर मन को ऊपर उठा लो। फिर भले ही यह शरीर चकनाचूर हो जाय।

सब कुछ भगवान् पर छोड़ देना होगा। उनमें बिलकुल डूब जाना होगा। वरना कुछ नहीं होगा, कुछ नहीं होगा। वे जैसा चाहें वैसा रखें। लोग केवल देहसुख चाहते हैं। कैसा अच्छा रहें, अच्छा खाएँ-पिएँ

--यही चिन्ता रहती है। क्या कोई भगवान् को भी चाहता है? अभी ये ही लोग बी. ए. पास कर आये हैं, पर कोई कुछ नहीं करता। प्रभु के लिए प्राणों की बाजी लगा देनी होगी। उन्हें सोलहों आना मन देना होगा, उस पर भी यदि कुछ हो, तो साढ़े सोलह आना मन-प्राण उन्हें समर्पित करना होगा। वे जब जो कार्य दें, उसे इसी प्रकार साढ़े सोलहों आना मन लगाकर करना होगा। वह काम पूरा होने पर वे जब दूसरा काम दें, तो उसे भी प्राणपन से करना होगा। इस प्रकार उनके काम में प्राणों की बाजी लगा देनी होगी। ऐसा करने पर दो ही चार काम करवाने के बाद वे छुट्टी दे देंगे। फकीर होना हो तो फिकर छोड़नी होगी, मतलब छोड़ना होगा, सब छोड़कर उनमें बिलकुल डूब जाना होगा। अपने हाथ में कुछ रखने से नहीं चलेगा। 'वे चाहे जैसा करें' कहकर देह, मन, प्राण, आत्मा सब उन्हीं के हाथ छोड़ देना होगा। शरीर की ओर देखना हो तो वे ही देखेंगे। जिस समय मैं लाँगल में था, तब खूब बीमार पड़ा। गंगाराम ने कहा कि वह मठ में खबर दे देगा। मैं बोला, 'खबरदार! यदि मैं सुनूँ कि तुमने चिट्ठी लिखी है, तो इसी दशा में यहाँ से चल दूँगा।' तब मैंने कहा था--औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः'। क्या मैंने यह ढोंग करते हुए कहा था?--नहीं। अन्दर इसका ठीक-ठीक ज्ञान था।

(क्रमशः)

# धर्म और विज्ञान

प्रेम सिंह

(मारीशस-स्थित रामकृष्ण मिशन के केन्द्र ने अपने भव्य मन्दिर में भगवान् श्रीरामकृष्णदेव की संगमर्मर-प्रतिमा की प्रतिष्ठा के उपलक्ष में ११ से १९ अप्रैल १९८१ तक जो नव-दिवसीय उत्सव-समारोह का आयोजन किया था, उसमें १७ अप्रेल को 'धर्म और विज्ञान' विषय पर एक रोचक और शिक्षाप्रद परिसंवाद रखा गया था। इस परिसंवाद की अध्यक्षता करते हुए मारीशस-स्थित भारत के कार्यकारी हाई कमिश्नर श्री प्रेम सिंह ने जो भाषण दिया था, वही प्रस्तुत लेख के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।—स०)

आज यहाँ दो शब्द कहते हुए मुझे संकोच और गौरव का बोध हो रहा है। धर्मक्षेत्र के इतने अधिकारी विद्वानों के बीच बोलना जहाँ मुझे सहज रूप से संकुचित कर रहा है, वहाँ इस बात का गौरव भी हो रहा है कि इस पवित्र और महत्त्वपूर्ण अवसर पर मैं आप सबके बीच हूँ। श्री रामकृष्ण की मूर्ति की स्थापना का योग हम सबके लिए बड़ा उल्लासकारी है। उन्होंने आधुनिक हिन्दू धर्म को मानवीयता और करुणा से आप्लावित किया। मतवादों के नाम पर झगड़नेवाले मानवसमुदाय को 'सब धर्मों की आत्मा एक है, प्रभु को हर समुदाय का सदस्य अपने अपने आचार-अनुष्ठान का पालन करते हुए पा सकता है' का अनुभूत सन्देश दिया। गीता में दिये गये भगवान् कृष्ण के आप्त सन्देश का उन्होंने अपने जीवन में साक्षात् किया था। हिन्दू, ईसाई, इसलाम सभी उपासना-पद्धतियों से उन्होंने परम ब्रह्म की सत्ता की अनुभूति की थी। ऐसे महापुरुष की याद में आयोजित यह समारोह हमारे भौतिक संसाधनों की उपलब्धि में व्यस्त सांसारिक जीवन को अवश्य ही आध्यात्मिकता का स्पर्श देगा।

आज की चर्चा का विषय है धर्म और विज्ञान । अनेक अधिकारी पुरुष इस विषय पर अपने सारगर्भित विचार व्यक्त कर चुके हैं। मेरा यह स्पष्ट मत है कि धर्म और विज्ञान दो परस्पर-विरोधी और कभी न मिलनेवाले सूत्र नहीं हैं। न ही ये एक दूसरे की बखिया उधेड़नेवाले विचार-बोध हैं। ये अविरोधी और एक दूसरे के सहयोगी हैं। धर्म और विज्ञान अपने अपने मार्ग और पद्धति से एक ही आदि सत्ता तक पहुँचने में सतत प्रयत्नरत हैं। धर्म का ब्रह्म और विज्ञान की ऊर्जा एक दूसरे के पास पहुँच रहे हैं। जबसे आइस्टीन ने पदार्थ को ऊर्जा का परिवर्तित रूप घोषित किया, तबसे विज्ञान की सारी भौतिक और जडवादी मान्यताएँ ध्वस्त हो गयीं। वैज्ञानिकों ने सारे जगत् को ऊर्जा का भासित रूप स्वीकार किया।

धर्म और विज्ञान का परस्पर-विरोधी स्वरूप पश्चिम की देन है। १८वीं शदी के अन्तिम चरण में जब विज्ञान अपने आधुनिक रूप में जन्म ले रहा था, तब पश्चिम का धर्म अपनी पुस्तकीय प्रतिबद्धता के कारण आतंकित हो उठा था। उसने अपने सत्य को ढहने से बचाने के लिए वैज्ञानिकों और विचारकों को फांसी पर चढ़ाना शुरू कर दिया। अपनी लाख दमनकारी कोशिशों के बावजूद पश्चिम का धर्म अपने सत्य को विज्ञान की खोज से उभरे शाश्वत सत्य के सामने टिका नहीं सका। लेकिन पूरब में ऐसा कभी नहीं हुआ। भारतीय मनीषी ने सत्य के हर उद्घाटन को पुराने सत्य की पराजय नहीं समृद्धि माना और अज्ञात की हर खोज को ब्रह्म का साक्षात्कार कहा। इसीलिए आर्यभट्ट, वराहमिहिर, रोहिणी, चरक, सुश्रुत आदि विभिन्न क्षेत्रों के वैज्ञानिक ऋषि कहलाये। मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता का यह कैसा हृदयग्राही उदाहरण है कि पृथ्वी घूमती है कहनेवाला गैलेलियो सूली पर चढ़ा दिया गया, लेकिम अणु को ब्रह्म का पर्याय मानने वाले कणाद को ऋषि का दर्जा दिया गया।

मैंने शुरू में कहा था कि धर्म और विज्ञान अविरोधी और परस्पर-सहयोगी हैं। जब मैं धर्म की बात करता हूँ, तो उसका अर्थ 'रिलीजन' से बिल्कुल अलग समझना चाहिए। 'रिलीजन' जिसे भारतीय अध्यात्म-शब्दावली में सम्प्रदाय या मत कहते हैं, एक पुस्तक और एक पैगम्बर से प्रतिबद्ध होता है, उससे हटकर सोचना उसके अनुयायियों को पथभ्रष्ट या विद्रोही बनाता है; लेकिन धर्म के सामने ऐसी कोई रुकावट नहीं होती, वह मूल्यों की प्रतिबद्धता का हामी है। इन मूल्यों की निर्मिति और स्थापना में अनेक पुस्तकों और पैगम्बरों का योगदान हो सकता है, किन्तु इनका कथन अन्तिम नहीं होता है। आनेवाली पीढ़ियाँ इन मूल्यों को और समृद्ध तथा संशोधित करने को स्वतंत्र होती हैं। इसलिए भारतीय मनीषियों ने धर्म की व्याख्या करते हुए उसे जीवन-मूल्यों से जोड़ा, पूजा-पद्धतियों या कर्मकाण्डों से नहीं।

आखिर विज्ञान की अन्तिम खोज क्या है? उन शाश्वत एवं आधारभूत नियमों का पता लगाना, जिनसे इस सृष्टि का या वैज्ञानिक अवलोकनों से जानकारी में आनेवाली अन्य सृष्टि का परिचालन हो रहा है, धारणा हो रही है। इन नियमों को जानकर विज्ञान तदनुरूप अपने सिद्धान्तों की रचना करता है। न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण और गति का सिद्धान्त, जेम्स वाट की रेलगाड़ी और राइट ब्रदर्स की विमान की उड़ान तथा आइंस्टीन का सापेक्षवाद अनादिकाल से चले आ रहे प्राकृतिक नियमों की जानकारी मात्र है और इन्हीं से अनेक रचनाएँ हुईं, जिनसे आज मानव समुदाय लाभ उठा रहा है। और धर्म? शास्त्रों ने कहा है कि "धारणात् धर्मम् इत्याहुः, जिससे धारणा होती है, वही धर्म है। इस सृष्टि की धारणा जिन नियमों पर आधारित है, उसे धर्म कहते हैं। प्रकृति का अपना धर्म है, मानव का अपना धर्म है। इतना ही नहीं तो भगवान् का भी अपना धर्म है। इस धर्म अर्थात् प्राकृतिक नियमों के विपरीत चलने से पतन होता है, सृष्टि का सन्तुलन बिगड़ता है। इसीलिए

शास्त्रों ने धर्म की और सहज व्याख्या करते हुए कहा कि "यतो अभ्युदयनिःश्रेयस्-सिद्धिः स धर्मः"—जिससे मनुष्य को सांसारिक और अध्यात्मिक जीवन में सिद्धि मिले, वही धर्म है। ये दोनों सिद्धियाँ सृष्टि में निहित मूलभूत नियमों के आचरण से ही प्राप्त होंगी। इसके विपरीत जाने से सर्वनाश होगा यह धर्म का विधान है।

सृष्टि में निहित शाश्वत नियमों से अपनी तकनीक विकसित करनेवाला विज्ञान आज स्वयं धर्मच्युत हो गया है। उसने ऊर्जा का उपयोग दैत्याकार उद्योग खड़ा करने के लिए किया, लेकिन उसके कचरे की महामारी पर उसका ध्यान बिल्कुल नहीं गया। इसीलिए आज प्रदूषण की महामारी संसार में फैल रही है। लेकिन प्रकृति में यह महामारी नहीं है। आदमी के जहर कार्बन-डाइआक्साइड को पेड़ लेते हैं और अपने जहर आक्सीजन को आदमी को दे देते हैं। एक का जहर दूसरे के लिए अमृत, यह है प्रकृति की सुव्यवस्थित रचना। विज्ञान प्राकृतिक नियमों का शोषण करने में तो समर्थ हुआ है, लेकिन उन्हें सन्तुलन और स्वस्थ जीवन देने में वह अपने को निरुपाय पा रहा है। इसीलिए आज आवश्यक है कि विज्ञान को धर्म से जोड़ा जाय, उसे आधारभूत शाश्वत निममों के विरुद्ध न जाने दिया जाय।

विज्ञान और धर्म दोनों का एक ही घोष वाक्य है—सत्य की खोज। रास्ते अलग हैं, किन्तु लक्ष्य एक है। विज्ञान सत्य को चर्मचक्षुओं से तर्क के आधार पर देखने में विश्वास करता है। वह किसी घटना या स्थिति में तब तक विश्वास नहीं करता, जबतक उसके होने के लिए उसके पास तर्क का सुस्पष्ट प्रमाण न हो। धर्म भी प्रमाणों और तर्कों पर विश्वास करता है, किन्तु वह उपकरणीय या चाक्षुष प्रमाणों पर ही आश्रित नहीं होता। वह अलौकिक शक्तियों पर भी विश्वास करता है, जिनकी विज्ञान पहले खिल्ली उड़ाता था, लेकिन अब परामनोविज्ञान और टेलीपैथी आदि के विकास के कारण उन्हें वैज्ञानिक मानने को बाध्य हो रहा है। धर्म तो सत्य का इतना बड़ा पक्षधर है कि

उसने स्पष्ट घोषणा की है कि सत्य ही ब्रह्म है। किसी चीज को उसके वास्तविक स्वरूप में जान लेना ही ब्रह्म है। यही बोध धर्म का चरम लक्ष्य है।

विज्ञान स्वभावतः विश्लेषण में विश्वास करता है, इसीलिए आज वह नाना प्रकार की विसंगतियों का शिकार है। वस्तु का अन्तर्तम फाडकर उसके चरम सत्य में झांकने में तो उसकी बड़ी ललक है, किन्तु उस फटने की क्रिया में प्राकृतिक नियमों में कितना असन्तुलन हो जाता है और उनकी जटिलता कितनी बढ़ जाती है उसकी जानकारी रखते हुए भी उसका निदान अपनी खोज की मस्ती में विज्ञान नहीं करता। इसी कारण 'आफटर इफैक्ट' की बीमारी विज्ञान में तेजी से बढ रही है। एक से एक बढकर संहार करने वाले बम तो बन गये हैं, लेकिन उनके संहारक-मारक प्रभाव को नष्ट करनेवाले बम कहाँ हैं, जो सृष्टि को असन्तुलन और नियमहीनता के सर्वनाश से बचा सकें? दूसरी ओर, धर्म विश्लेषण नहीं, सामंजस्य पर बल देता है। जब धर्म ने घोषित किया कि अग्नि को अकारण जलाकर रखना, पेड़ काटना, नदी के जल को दूषित करना जघन्य पाप है, तो यह सृष्टि की रचना को स्वस्थ रखने का सामंजस्यपूर्ण उपाय है। इसी प्रकार जब शास्त्रों ने कहा कि धैर्य, क्षमा, चोरी न करना, शुद्धता, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धिमत्ता, विद्या, सत्य और क्रोध न करना, मानव-धर्म के दस लक्षण हैं,तो इसमें भी सामजस्य का बोध है। इन नियमों का पालन करने से मानवसमाज बिना 'आफटर इफैक्ट' पैदा किये उदात्त जीवन जी सकेगा। इसी से वह चरम सत्य तक पहुँच सकेगा। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा से युक्त मनुष्य के जीवन में इन्हीं नियमों के आचरण से तनावहीन सामजस्य पैदा हो सकेगा।

विज्ञान और धर्म दोनों की सत्य की खोज जारी है। विज्ञान अभी इस चरम बिन्दु पर नहीं पहुँच पाया है, जहाँ जाकर वह यह कह सके कि अब उसके आगे कुछ नहीं है। धर्म भी ब्रह्म को वैदिक काल से ही 'नेति नेति' कहता आ रहा है अर्थात उसका कोई अन्त नहीं है।

●

# आश्रम समाचार

'विवेक-ज्योति' के इस वर्ष के प्रथम अंक में हमने अमरकंटक-क्षेत्र में चल-चिकित्सालय (चलता-फिरता धर्मार्थ एलोपैथिक अस्पताल) के शुभारम्भ की सूचना दी थी। अब रायपुर और दुर्ग जिलों के ग्रामीण क्षेत्रों में चिकित्सा-सुविधा उपलब्ध कराने की दृष्टि से उक्त चल-चिकित्सालय का प्रारम्भ सोमवार, २२ जून १९८१ को एक सादे समारोह में किया गया। समारोह के प्रमुख अथिति थे रायपुर संभाग के आयुक्त श्री रघुनाथ प्रसाद, आय. ए. एस. तथा इसकी अध्यक्षता की रायपुर के पुलिस उप-महानिरीक्षक श्री बी. के. मुखर्जी आय. पी.एस. ने। यह चलता-फिरता अस्पताल निम्नलिखित रूप से छह सेवा-केन्द्रों के माध्यम से कार्य कर रहा है, जिसका लाभ लगभग पचास गाँवों के निवासियों को प्राप्त हो रहा है:-

| दिन | दोपहर २॥ से ४ बजे | सायं ४॥ से ६॥ बजे |
|---|---|---|
| सोमवार<br>गुरुवार | ग्राम-तूता<br>जिला-रायपुर | टिकरापारा,<br>रायपुर। |
| मंगलवार<br>शुक्रवार | ग्राम-गिरौद<br>जिला-रायपुर | बीरगाँव,<br>रायपुर। |
| बुधवार<br>शनिवार | जिला-कंडरका<br>जिला-दुर्ग | चन्दनडीह,<br>रायपुर। |

# रामकृष्ण मिशन समाचार

## रामकृष्ण आश्रम, राजकोट द्वारा नव निर्मित वनालिया ग्राम का श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा उद्घाटन

मोरवी की बाढ़-दुर्घटना अब अतीत की बात हो चुकी है, पर दुर्घटना के दिनों में जो समाचार प्रकाशित हुए, वे दिल को दहलाने वाले थे। यहाँ भी रामकृष्ण मिशन ने रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के माध्यम से राहत-कार्य का जो बेमिसाल आदर्श प्रस्तुत किया, वह सभी के लिये प्रेरणा का विषय रहा। रामकृष्ण आश्रम, राजकोट ने उस समय सामयिक राहत कार्यों में सोलह लाख रुपये खर्च किये, यह तो सराहनीय था ही पर उससे भी बड़ा कार्य उसने इस बाढ़ से सम्पूर्णतः नष्ट वनालिया ग्राम के नव-निर्माण द्वारा प्रस्तुत किया, जिस पर आश्रम को चालीस लाख रुपयें व्यय करने पड़े। वहाँ १८३ नये घरों के निर्माण के साथ साथ एक बाल मन्दिर, विद्यालय भवन, औषद्यालय, श्री हनुमान् मन्दिर तथा भगवान् श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सहधर्मिणी माँ सारदा देवी का सुन्दर मन्दिर निर्मित हुआ है। ग्रामवासियों ने श्रद्धापूर्वक इस गाँव का नया नाम 'श्रीसारदानगर' रखा है।

इस नवनिर्मित ग्राम का उद्घाटन पिछले दिनों भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा सम्पन्न हुआ। लगभग बीस हजार दर्शकों की महती भीड़ को सम्बोधित करते हुए श्रीमती गांधी ने अपने उद्घाटन-भाषण में रामकृष्ण मिशन के सेवा कार्यों की प्रशंसा करते हुए कहा—"रामकृष्ण मिशन के कार्य तो केवल भारत में ही नहीं, सारी दुनिया में प्रसिद्ध हैं। जहाँ भी सेवा की आवश्यकता होती है, वहाँ वे पहुँचते हैं। दूर दूर की जगहों में उनके आश्रम हैं, स्कूल हैं, अस्पताल हैं, हर प्रकार की सेवा है।

विशेषकर जब इस प्रकार की घटना होती है, सूखा पड़ता है, बा आती है, भूकम्प आता है, तो वहां सर्वप्रथम वे ही पहुंचते है अ बहुत सुन्दर राहत कार्य करते है। यह गांव (वनालिया) कि प्रकार से बस गया, यह एक चमत्कार की कहानी है...।"

•

प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी नये ग्राम 'श्रीसारदानगर' का उद्घाटन कर रही हैं। उनके दाहिनी ओर रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के अध्यक्ष स्वामी व्योमानन्द हैं।

रामकृष्ण आश्रम; राजकोट द्वारा नवनिर्मित
ग्राम 'श्रीसारदानगर'।
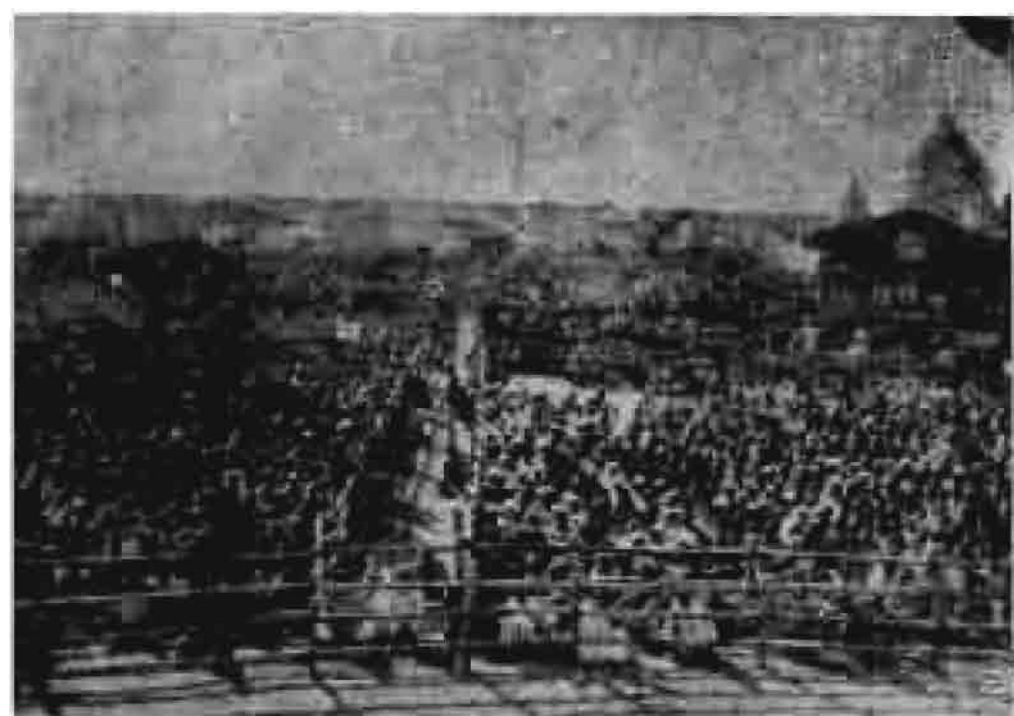
श्रीसारदानगर ग्राम के उद्‌घाटन के समय का एक दृश्य। दाहिने कोने में 'श्री माँ सारदामन्दिर' दिखायी दे रहा है।